सिद्धयोग

2018

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

एक प्रति : 25/- द्विवार्षिक : 360/-

प्रकाशन तिथि : 01.01.2018

वर्ष : 50; अंक : 10
जनवरी 2018

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृत कण

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

जो पुरुष कर्मफल का आश्रय न लेकर करने योग्य कर्म करता है वह संन्यासी तथा योगी है, और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं है।

◆ ◆ ◆

यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन।।

हे अर्जुन ! जिसको सन्यास ऐसा कहते हैं उसी को तू योग जान। क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।

◆ ◆ ◆

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।

योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा जाता है। और योगारूढ़ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष का जो सर्व संकल्पों का अभाव है वही कल्याण में हेतु कहा जाता है।

◆ ◆ ◆

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते।।

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मो में ही आसक्त होता है उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

◆ ◆ ◆

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।

अपने द्वारा अपना संसार समुद्र से उद्धार करे और अपने को अधोगति में न डाले क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

●●●

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष : 50
अंक : 10

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

जनवरी
2018

प्राग्नेय तवसे भरध्वं गिरं
दिवो अरतये प्रथिव्याः।
यो विश्वेषाममृतानामुपस्थे
वैश्वानरो वावृधे जागृवद्भिः।
—ऋग्वेद

भावार्थ

हे मनुष्यो ! जो प्रभु सम्पूर्ण मनुष्यों में प्रकाशमान सूर्य व पृथ्वी के मध्य (सम्पूर्ण विश्व में) सब अनश्वर आत्माओं एवं प्रकृति में व्याप्त होकर वृद्धि व विकास करते हैं उसे अविद्या की निद्रा से जाग्रत होने वाले ही पाते हैं। उस सर्व शक्तिमान एवं सर्वव्यापक प्रभु होने वाले ही पाते हैं। उस सर्व शक्तिमान एवं सर्वव्यापक प्रभु के उपदेश को धारण कर उसकी स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना करो।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

संस्थापक :
योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

इस अंक में ...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज 3
2. सम्पादकीय (नववर्ष मंगलमय हो!) 11
3. सम्पादकीय 13
4. श्रीमद्भागवत में योग–परिचर्चा – डॉ.विजय सिंह 16
5. गुरु भक्ति की आत्मकथा – देवेन्द्र सिंह यादव 20
6. मैं गुफा वाला बाबा हूँ – जगदीश राए बंसल 22
7. श्रद्धावान लभते ज्ञानम् – सूरजमल शर्मा 25
8. ज्योमि में ज्योति समाऊँ – आचार्य ब्रह्मचारी बृजमोहन वशिष्ठ 27
9. आश्रम के हीरा – आचार्य ब्रह्मचारी बृजमोहन वशिष्ठ 28
10. प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण कर्म – आचार्य डॉ. केशवराम शर्मा 29
11. ईश्वर साक्षात्कार – विनोबा 33
12. एकात्मकता – श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा 34
13. जीवन और मृत्यु – श्री दिव्यजी 40

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

विशेष लेख

दुर्लभो मानुषो जन्म

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

देखो! आज मैं तुम्हें समझाऊँगा कि मनुष्य जन्म दुर्लभ क्यों है? सभी अनुभवी महात्माओं तथा शास्त्रों ने एकमत से इस बात को स्वीकारा है कि मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। एक बार मनुष्य शरीर छूट जाने पर दोबारा बहुत मुश्किल से मिलता है, इसका एक कारण है उसे समझो। गीता में भगवान ने बताया है–

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:।।'

अर्थात् मनुष्य जिन–जिन भावनाओं का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है उन्हीं–उन्हीं भावनाओं के अनुरूप योनियों को प्राप्त होता है। अनुभवी सन्तों का कथन है कि एक साधारण मनुष्य को मृत्यु के समय एक हजार बिच्छू के एक साथ काटे जाने के बराबर दु:ख होता है, और जो पापात्मा है उसे दस हजार बिच्छू के काटे जाने का दु:ख होता है। एक साधारण बिच्छू किसी को काट लेता है तो वह बुरी तरह तड़पने लगता है। हजारों बिच्छू एक साथ काटें उस दु:ख की कल्पना ही कठिन है। आम तौर पर दु:ख प्रधान मृत्यु हुआ करती है। मृत्यु के समय लोग उस मरने वाले से कहा करते हैं–भाई! राम–राम कहो रे'। किन्तु उस घोर दु:ख के समय उसे यह बात अच्छी नहीं लगती। उसके प्राण घुट रहे होते हैं। प्राण निकलते समय प्राणों का घर्षण होता है, अत्यधिक प्यास लगती है इसलिये लोग उसे दीवले से पानी पिलाया करते हैं। यदि प्यासा ही शरीर छूट जाता है तो देहपात के पश्चात् प्रेत–पिशाच आदि योनियों में चला जाता है। उसका मुख सुई की नोंक के बराबर छोटा होता है, पानी पी नहीं सकता। प्यास के मारे भटकता रहता है। उस शरीर को छोड़ने के बाद उस दु:ख की स्मृति से युक्त होने के कारण पुन: उसी प्रकार के अत्यन्त कष्टप्रद योनियों को प्राप्त होता रहता है यही क्रम अनन्त जन्मों तक चलता रहता है। सिद्धान्त की बात यह रही कि देखना यह चाहिये कि अन्तिम समय किसी मनुष्य का भाव कैसा होता है लोग घुट–घुट कर ही मरते हैं कई अधोमार्ग से

जाते हैं। कई–कई व्यक्तियों के प्राण निकलते ही नहीं हैं। एक जगह पर एक व्यक्ति के प्राण निकल नहीं रहे थे वहाँ पास में एक योगी ब्रह्मचारी रहते थे, लोगों ने कहा–'महाराज! इसके प्राण नहीं निकल रहे हैं।' योगी ने जाकर हाथ लगाया तुरन्त उसके प्राण निकल गये। लोग गोदान आदि कराते हैं ताकि प्राण आसानी से छूट जायें। महात्माओं के दर्शन कराते हैं। प्राणों का जब घर्षण होने लगता है तब कृष्ण याद नहीं आते, राम याद नहीं आते, गुरुदेव याद नहीं आते। घर्षण का जो दु:ख होता है, उस दु:ख की ही स्मृति रहती है। उस दु:ख के कारण कुत्ता, बिल्ली आदि निम्न शरीरों में चले जाते हैं। सर्प–छिपकली आदि प्राणियों के पूँछ से प्राण जाते हैं इस प्रकार और निम्न योनियों में चलते चले जाते हैं। तड़प–तड़प कर शरीर छूटने से इन योनियों में शुभ चिन्तन होने की गुंजाईश ही नहीं रहती। स्वर्ग में भी कोई कर्म बनता नहीं है। ज्यादा आराम में साधना नहीं होती। मनुष्य दु:ख से सताया हुआ जप करता है, तप करता है, ध्यान करता है। भगवान ने एक सिद्धान्त की बात कही है जो मैंने तुम्हें बताया है–

'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।'

साधारण लोकोक्ति भी है, 'अन्त मति–सो गति।' अर्थात् अन्तिम समय जैसे विचार होते हैं वैसे ही उसकी गति हो जाया करती है। मैं एक उदाहरण देकर इस बात को समझाता हूँ।

मेरे बड़े गुरु भाई थे ब्रह्म. गोपालानन्द जी। उनकी ध्यान की स्थिति बड़ी ऊँची थी। योगी में जब ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय हो जाता है, तो वह सत्य दृष्टा बन जाता है। उसे जो भी अनुभव होते हैं वे सत्य ही होते हैं। ब्रह्म. गोपालानन्द जी ध्यान में ही रहस्य की बातें श्री प्रभु जी से पूछ लिया करते थे। एक बार उनकी यह जानने की इच्छा हुई कि उसकी माँ कहाँ हैं? ऐसा संकल्प आते ही उसे ध्यान में एक काली–काली सी तेरह–चौदह वर्ष की लड़की दिखाई दी, जो अपने हाथ में मछलियाँ पकड़ी हुई थी। श्री प्रभु जी ने ब्रह्म. गोपालानन्द जी से कहा यही तेरी माँ है। ब्रह्म. गोपालानन्द जी ने आश्चर्य से प्रभु जी से पूछा–'प्रभु जी हम तो अग्रवाल वंश के सात्विक लोग हैं फिर इनकी यह गति कैसे?' इस पर श्री प्रभु जी ने कहा–'तुम अपनी बहिन रुक्मिणी देवी से पूछना कि इनकी मृत्यु कैसे हुई थी? ध्यान से उठने के बाद ब्रह्म. गोपालानन्द जी ने अपनी बहिन से पूछा कि माता जी की मृत्यु कैसे हुई थी? रुक्मिणी देवी ने कहा–हमारी माताजी को पेट में बहुत दर्द था। उदराध्मान हो गया था। डॉक्टरों ने कहा मछली का तेल पिलाने से यह ठीक हो जायेगी। चूँकि वह अग्रवाल परिवार में जन्मी थीं शाकाहारी परिवार में पैदा होने

के कारण वह मछली का तेल पीने को तैयार नहीं हुई। किन्तु जब कष्ट अत्यधिक बढ़ने लगा तो उन्होंने तेल पीने की इच्छा व्यक्त कर दी। एक व्यक्ति को तेल लाने के लिए भेजा गया। इसी बीच में मछली के तेल की भावना करते-करते ही उसका शरीर छूट गया। इसी कारण से उसे मछिआरे के घर में जन्म मिला था। यह घटना यह सिद्ध करती है कि अन्त समय में जैसा चिन्तन होगा वैसी ही उसकी गति होगी। तुमने जड़ भरत का उपाख्यान पढ़ा होगा। वे भी ध्यानी थे। उन्होंने मृगी के बच्चे को पाला। उसमें मोह हो गया। शरीर छूटते समय उसका ध्यान रहा। परिणाम यह हुआ कि उसे मृगी के पेट में जाना पड़ा, किन्तु योगी ध्यानी था उसे पूर्व जन्म की स्मृति बनी हुई थी। फिर जल्दी मृग योनि से छूटकर मानव शरीर पाया।

मैने तुम्हें बताया था कि सुखपूर्वक प्राण छोड़ने वाले इने-गिने ही लोग होते हैं। जो पुण्यात्मा होते हैं, योग ध्यान करते हैं, उनका अन्तिम समय अच्छा होता है। शुभ संस्कार सामने आते हैं तथा इनके प्राण चटपट छूट जाते हैं, उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। हमारे कितने ही योग ध्यानी-संस्कारी बच्चे हैं, जिन्होंने योगियाना ढंग से, कहकर के शरीर छोड़ा है। योगदर्शन में पतञ्जली जी ने मृत्यु काल को जानने का एक सूत्र बताया है।

सोपक्रमं निरूपक्रम च कर्म तत्संयमादपरान्त ज्ञानं अरिष्टेभ्योवा।

अर्थात् मनुष्य के कर्म दो प्रकार के हैं-**सोपक्रम और निरूपक्रम**। सोपक्रम कर्म ऐसे होते हैं जैसे सूखी लकड़ी होती है, वह तुरन्त जल जाया करती है। निरूपक्रम कर्म उस तरह से होते हैं जैसे गीली लकड़ी हुआ करती है। गीली लकड़ी धीरे-धीरे जला करती है। इन दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से योगी को अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। जो ध्यानाभ्यासी होते हैं उन्हें गुरुदेव की कृपा से मृत्यु ज्ञान हो जाता है। मैंने तुम्हें कई बार अपने एटा के एक बच्चे ठा. फतेह सिंह का उदाहरण दिया है। वह अच्छा ध्यानाभ्यासी था। उसे अपनी मृत्यु का ज्ञान हो गया। सबको बताकर योगियों की तरह ध्यान में बैठकर शरीर छोड़ा। एक और दिल्ली का हमारा बच्चा ओमप्रकाश था, उसे भी अपनी मृत्यु का ज्ञान हो गया था। उसने सारी रात्रि कीर्तन करवाया। सुबह गीता पाठ किया। तत्पश्चात् ५ बजे ध्यान में बैठकर शरीर छोड़ा, परमात्म चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ा। यह शुभ गति देने वाला है। मैंने तुम्हें अपने बच्चे अशोक के बारे में भी कई बार बताया है। उसने भी प्रभुजी को प्रणाम करके चटपट शरीर छोड़ दिया। गाँव अलूपुर में हमारा एक बच्चा खुशीराम था। वह लड़का बड़ा गुरु भक्त था। दो माह पहले ही मृत्यु का ज्ञान हो गया। उसने मेरे पास एक आदमी को भेजा कि गुरुदेव को बुला लायें। वह

व्यक्ति मेरे पास आया और कहा—'गुरुजी खुशीराम कुछ अस्वस्थ है आप को बुलवाया है'। मैं उसके बारे में सोचने लगा तब प्रभु जी ने स्पष्ट कहा—इस समय वह बैकुण्ठवासी हो रहा है, मत रोको इसे मैं किसी कारण से उसके पास जा नहीं पाया। जब उसने शरीर छोड़ा उससे पहले एक बार पूर्णरूप से स्वस्थ हो गया था। शरीर छोड़ने से एक दिन पहले उसने भी सब को बता दिया था। उस दिन प्रातः उठकर नेति आदि क्रियायें कीं। बिल्कुल नये वस्त्र पहन लिये इसके बाद लेट गया। उसे अनुभव हो रहा था। कृष्ण चन्द्र आ रहे हैं स्वर्ग से अप्सरायें आई हैं। घरवालों को कहता था—देखो माँ श्रीकृष्ण जी के विमान में कितनी रोशनी है, देखा भी नहीं जाता।' अपनी माँ से कहता—माँ तू छत फोड़ दे, मैं छत से जाऊँगा, उसका सूक्ष्म शरीर ऊपर सहस्रार ब्रह्मरन्ध्र से जाना चाहता था। इसलिये छत फोड़कर जाने की बात कह रहा था वह दसवें द्वार से जाना चाहता था। अन्त में कहने लगा—'माँ तूने छत नहीं फोड़ी। मुझे कृष्ण जी अपने रथ में बिठा रहे हैं इनके रथ में ही बैठ जाता हूँ इस प्रकार कहते–कहते उसके प्राण निकल गये। भगवान कहते हैं—

'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।'

'ओम्' शब्द का उच्चारण करता हुआ और मेरी याद करता हुआ जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को पाता है।

गुरु भक्त ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर जाया करते हैं। गुरु सत्ता काल ही हद से परे की सत्ता है। प्रत्यक्–चेतन हैं वे। इस प्रकार के ध्यानी लोग शुभ चिन्तन करते हुये शुभ गति को पाया करते हैं। ध्यानी लोग ब्रह्मलोक के अधिकारी होते हैं और जो निर्बीज समाधि वाले होते हैं, वह तो कैवल्य भागी होते ही हैं। मेरे बच्चे राजनारायण थे। अपने स्वाध्याय व जाप से अपना अन्तिम समय उज्जवल बना दिया था। दिल्ली में जिस दिन उसका शरीर छूटा, मैं उसको देखने गया था। बराबर श्वास–प्रश्वास से मन्त्र जाप चल रहा था। उसके शुभ व उज्ज्वल संस्कारों का उदय हो गया। मन्त्रजाप करते–करते ही उसका शरीर छूटा। इसलिये शुभ कर्म शुभ चिन्तन मनुष्य शरीर में ही किया जा सकता है। प्रारब्ध तो सभी को भोगना ही होता है। **'प्रारब्ध कर्मणाम भोगादेव क्षयः'** प्रारब्ध कर्म भुगतान से ही नष्ट होते हैं। यह दूसरी बात है कि हम अपने प्रारब्ध को कैसे भोग लेते हैं। स्थूल शरीर में तो भुगतान में लम्बा समय लगेगा। समय अधिक लगेगा तो कष्ट भी अधिक होगा। सामान्य मनुष्य के भोग स्थूल शरीर में ही आते हैं। यदि गुरुदेव की कृपा है उनका साया है तो

सूक्ष्म शरीर में ही बहुत थोड़े में ही कर्म फल का भुगतान हो जाता है। मैंने तुम्हें मंगामल का उदाहरण देते हुये समझाया था कि उसके स्थूल शरीर में आने वाला भोग सूक्ष्म में ही कट गया। क्योंकि उसका ध्यान योग में प्रवेश हो गया था। इसलिये सूक्ष्म में ही भुगतान हो गया। अन्यथा किसी स्त्री के द्वारा छुरे से उसकी हत्या होनी थी। किन्तु सब दृश्य ध्यान में आ गया और भुगतान हो गया। कारण शरीर में (जहाँ जड़ चेतन की गाँठ है) भोग, क्षण भर में निपट जाता है। मैं एक उदाहरण देकर इस बात को समझाता हूँ। नेपाल में हिमालय में श्री प्रभुजी के गुरुदेव श्री महाप्रभु जी समाधि से उठे हुये थे। प्रभुजी उनके साथ में थे। वहाँ से मनोजविता सिद्धि से आकाशमार्ग से काँगड़े के पहाड़ पर गये। वहाँ 700 वर्ष के एक ऋषि बैठे थे। महाप्रभु जी ने पूछा–'तुमने हमें क्यों याद किया है' वे कहने लगे–'मेरी चित्त शक्ति आप में लय होना चाहती है'। उन्होंने कहा–'क्या तुम्हारे पिछले सारे जन्मों के संस्कारों का भुगतान हो गया?' उन्होंने कहा मेरे कार्य समाप्त हो गये हैं। इस पर महाप्रभु जी ने कहा अपना आज से 107 वाँ जन्म देखो।' उन्होंने समाधि लगाकर देखा उसमें इन्होंने एक बिल्ली मार रखी थी। उसका फल भोगने के लिये उसे एक जन्म बिल्ली का लेना था, बिल्ली के संस्कार बाकी थे। उन्होंने ध्यान में ही कारण शरीर में क्षण में ही यह संस्कार भोग लिया। इसके बाद एक सौ ग्यारहवाँ जन्म के भी संस्कार शेष थे उन्हें भी भोग कर वे निर्मल हो गये। इसके बाद ब्रह्माण्ड विभेदन करके शरीर छोड़ दिया। कहने का अभिप्राय यह कि ध्यानियों को सूक्ष्म शरीर में प्रारब्ध भोग आ जाते हैं और समाप्त हो जाते हैं। जो लयता की स्थिति को प्राप्त हो चुके होते हैं, उनके ऊपर प्रारब्ध का भुगतान आता ही नहीं। एक लोकोक्ति है हरियाणे की–घड़ी टले, वर्षा से जाये' अर्थात् समय निकल जाये तो बस फिर भोग टल जाता है। मैंने अपने एक एटा के बच्चे का उदाहरण भी दिया था–'सर्प के काटने से उसकी मृत्यु होनी थी' यह उसने ध्यान में देख लिया। उसने ध्यान में ही श्री प्रभुजी से प्रश्न किया। प्रभुजी! क्या यह संस्कार टाला जा सकता है? प्रभुजी ने कहा–हाँ यह संस्कार टाला जा सकता है। जिस समय यह संस्कार काल हो, उस समय तुम अपने इष्ट में लय रहना। उसकी लयता की स्थिति बनी हुई थी और अपने इष्टदेव विष्णु में लय रहा करता था। जब निश्चित समय आया उस समय वह ध्यान में बैठ गया और विष्णु में लय हो गया। घर के कक्ष के छोटे से बिल में से ही सर्प निकला और उसके शरीर पर चढ़ गया। बहुत देर तक इधर-उधर घूमता रहा और कुछ देर बाद चला गया। लड़का ध्यान से उठ गया। उसे पता चला कि सर्प आया था उसके शरीर पर घूमता रहा और

बाद में चला गया। उस लड़के ने श्री प्रभु जी से पूछा–प्रभु जी! इस सर्प ने मुझे काटना था किन्तु इसने कुछ नहीं किया। श्री प्रभुजी ने कहा–सर्प ने तुझे काटना था, विष्णु जी को थोड़े ही काटना था। उस समय तू विष्णु में लय था इसलिए साँप ने कुछ नहीं किया और वापस चला गया। 'प्रारब्ध कर्मणाम–भोगादेव क्षय, यह प्रारब्ध हमारा खत्म हो गया और शरीर छूटने का समय आ गया। अगला प्रारब्ध कैसे बनेगा इसका क्या फैसला। इसका फैसला यह है जो ढेर के ढेर हमारे संचित कर्म पड़े हुये हैं उनमें से हमारा नया प्रारब्ध तैयार होगा। संचित में से ही एक ढेर निकाल लिया उसमें जैसे कर्म हैं, उसके अनुसार अगला जन्म मिलेगा। उन में से एक कर्म मुखिया बन जायेगा और अपने सदृश अन्य कर्मों को इकट्ठा कर लेता है, जिस प्रकार से प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल में अपने अनुरूप सदस्यों को चुन लिया करता है। एक मुखिया कर्म अपने जैसे सहचारी कर्म को साथ लेकर प्रारब्ध बन जाता है। यदि मुखिया कर्म पाप के होंगे, तो जन्म पाप योनियों में हो जायेगा और यदि मुखिया कर्म पुण्य का होगा तो मनुष्य शरीर मिलेगा। इसलिये यह नहीं सोचना चाहिये कि हमारा अगला प्रारब्ध अच्छा ही होगा। प्रारब्ध अच्छा एक स्थिति में हो सकता है। वह मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ। योगदर्शन का सूत्र है **'क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्ट–जन्म वेदनीयः'** अर्थात् हमारा कर्माशय क्लेशमूलक होता है। और वह दो प्रकार का होता है। दृष्ट जन्म वेदनीय और अदृष्ट जन्म वेदनीय। दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म का मतलब है इसी जन्म में कर्म करें और उसका फल भी इसी जन्म में मिल जाये। अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्मों का फल उसी जन्म में नहीं मिलता, जिस जन्म में हम कर्म करते हैं। ये दृष्ट जन्म वेदनीय कर्म और अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्म पाप के भी होते हैं और पुण्य के भी होते हैं। तीव्र पुण्य के, कुछ ऐसे कर्म हैं जिनका फल इसी जन्म में मिलता है। **तत्र तीव्र संवेगेन मन्त्र–तप–समाधि–भिर्निवर्तत ईश्वर देवता महर्षि महानुभावानामा–राधनादवा यः परिनिष्पन्नः सः सद्यः परिपच्चते पुण्य कर्माशय इति'** अर्थात् तीव्र संवेग–गाढ़ी लगन से किया गया मन्त्र जाप, तप और समाधि का अभ्यास एवं ईश्वर, देवता एवं महर्षि महानुभावों के कृपा का फल, इसी जन्म में मिल जाता है। ध्रुव ने राज्य पाने के लिये भगवान विष्णु की तपस्या की। तपस्या करते–करते समाधि में लीन हो गये, नारायण में लय हो गया। भगवान विष्णु सामने आये किन्तु उसकी समाधि भंग नहीं हुई। भगवान ने अपने शंख का स्पर्श कराया इससे उनकी समाधि टूटी। भगवान ने उससे कहा–वर माँगो! इस पर ध्रुव ने उत्तर दिया–

'स्थानाभिलाषी तपसी स्थितोऽहम्
त्वाम् प्राप्तवान् देव मुनीन्द्र गुह्यम्।

काचन विचन्वन आप्त दिव्य रत्नम्
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे।।'

अर्थात् मैं तो राज्य पाने की इच्छा से तपस्या कर रहा था। काँच ढूँढ़ते हुये देवता और मुनियों को भी दुर्लभ आप दिव्य रत्न मुझे मिल गये। स्वामिन् मैं कृतार्थ हूँ। मुझे कुछ वर नहीं चाहिये।' कुछ न माँगने पर भी उसे अटल पद मिल गया। मैं तुम्हें मार्कण्डेय का उपाख्यान सुनाया करता हूँ। मृकण्ड ऋषि का पुत्र था उसे सोलह वर्ष की आयु ही प्राप्त थी। मृकण्ड ऋषि ने अपने पुत्र को ऋषियों को प्रणाम करना सिखाया। ऋषि उन्हें आशीर्वाद देते–चिरंजीवी भवः! साथ ही वह मृत्युञ्जय का जाप करता था, भगवान शिव की आराधना किया करता था। जिस दिन मृत्यु होनी थी, उस दिन आराधना से प्रसन्न होकर भगवान शिव प्रकट हो गये और उन्हें अमर बना दिया। यह है दृष्ट जन्म वेदनीय पुण्य कर्म का फल। मेरे कहने का अभिप्राय है तुम भी दृष्ट जन्म वेदनीय पुण्य कर्म तैयार करो। इसके लिये तुम्हें ध्यान योग का अभ्यास करना चाहिये। गुरु मन्त्र का खूब जाप करो। इससे दृष्टजन्म वेदनीय पुण्य कर्म तैयार हो जाता है। गुरुमन्त्र का जाप करते हुये तुम्हारा मनुष्य जन्म कहीं नहीं जायेगा। ध्यानाभ्यास करने से मनुष्य शरीर मिलता रहेगा जब तक कैवल्य प्राप्ति न हो जाये। इसलिए ध्यानाभ्यास की आदत डालो। सूक्ष्म शरीर में वृत्ति रहने पर कर्मों का भुगतान जल्दी–जल्दी होने लगेगा। इसलिये अपने ध्यानाभ्यास को बढ़ाते चले जाओ। ध्यानाभ्यास में भगवान शिव, भगवान कृष्ण, भगवान राम आदि का ध्यान किया जाता है। यह सगुणोपासना है। इससे–इनकी आकृतियों को ध्यान का अवलम्ब बनाना होता है। मानो गुरुदेव उपदेश देते हैं। मूलाधार कमल पर गणेश जी विराजमान हैं, उनका ध्यान करो। सर्वप्रथम साधक कल्पना करेगा। मूलाधार में चार कमल दल हैं। श्री गणपति जी बीच में विराजमान हैं। पीले रंग की धोती पहने हुये हैं। उनकी लम्बी सूँड है। पेट बड़ा है। जिस पर मुकुट विराजमान है। बायें–दायें ऋद्धि–सिद्धियाँ हैं।

इस प्रकार से कल्पना करते रहने को 'धारणा' कहते हैं–**'देश बन्ध चित्तस्य धारणा'**। इस प्रकार से एक स्थान पर बराबर कल्पना करना चित्त का देशबन्ध है।

'तत्राऽपि तावत् वृत्तिमात्रेण बन्धो धारणा' वृत्ति मात्र से मन को एक जगह लगाना धारणा है। मैं तुम्हें इस बात को बार–बार समझाता रहता हूँ कि जो साधक छः महीने तक इसी प्रकार से गुरुदेव की आज्ञानुसार संयमपूर्वक–जितेन्द्रिय होकर धारणा करता है, वही ध्यान में बदल जायेगा। **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'**। तेलधारा वत् जब वृत्ति

स्थिर होने लगे, बराबर इष्ट देव दीखने लगें बाहर की इन्द्रियों के व्यापार बन्द होने लगें, तभी अन्दर इष्ट के दर्शन बराबर होने लगते हैं।

प्रारम्भ में साधक को गुरुदेव के वचनों पर विश्वास करके अभ्यास में लगना पड़ता है। जिस प्रकार से वर्णाक्षरों का बोध कराते हुये, अध्यापक द्वारा बताये गये कि यह अक्षर 'अ' है, बच्चे को उसे 'अ' ही मानना पड़ता है। उसी प्रकार से आरम्भ में श्रद्धापूर्वक गुरुदेव के वचनों पर विश्वास करके साधना करनी होती है।

कम से कम छः माह तक इसी प्रकार से दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवित के नियम से अपने चित्त को इष्ट में एकाग्र करे। यही धारणा कहलाती है।

साधना में प्रारम्भ में सगुण उपासना का ही आश्रय लिया जाता है। भगवान राम, श्री कृष्ण तथा अन्यान्य वीतरागी महापुरुषों का ध्यान करवाया जाता है इनकी आकृतियों में हमारी श्रद्धा होती है। अतः मन जल्दी एकाग्र हो जाता है। उनकी आकृतियाँ हमें अच्छी लगती हैं।

अर्जुन ने भी भगवान कृष्ण से सगुण उपासना और निर्गुण उपासना के भेद के विषय में पूछा था। भगवान ने बताया कि 'यद्यपि अव्यक्त की उपासना करने वाले भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, लेकिन उनकी साधना में कठिनता अधिक है। अव्यक्त में मन–बुद्धि जल्दी से एकाग्र नहीं हो पाते। अव्यक्त उनकी पहुँच से आगे है। इसलिये भगवान ने **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'** अर्थात् हे अर्जुन! तू अपने मन और बुद्धि को मुझ में लगा दे इससे तू मेरे में लय हो जायेगा, एक रूपता हो जायेगी। यह तद्रूपता का होना सम्प्रज्ञात समाधि है। निर्जीव समाधि इससे आगे है।

वीतरागी महापुरुषों से अथवा भगवान् कृष्णादि इष्टों में, मन–बुद्धि लय हो जाने पर वे लोग जिस स्थिति में रहा करते हैं, उसी स्थिति में साधक रहने लगता है। क्योंकि उनका प्रकृति एवं अविद्यादि क्लेशों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः साधक के भी अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं। इसलिये अन्तर्जगत् में प्रवेश करने का प्रयत्न करो। जो पवित्र योग मार्ग में चलने लगेगा, सर्वशक्तिमान श्री प्रभु जी उनकी सब प्रकार से सहायता करेंगे। जो थोड़ा भी अन्तर्जगत में प्रवेश पा जाता है उसको अगला मनुष्य जीवन मिलने में कोई कठिनाई नहीं। अवश्य मनुष्य जीवन मिलेगा ही मिलेगा।

इसलिये तत्परता से तीव्र संवेग अर्थात् गाढ़ी लगन से साधना में लग जाओ, यही कल्याण का मूल साधन है।

सम्पादकीय (नववर्ष पर विशेष)

नववर्ष मंगलमय हो!

—योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

ईस्वीय वर्ष 2017 बीत गया है। वर्ष के मृदु एवं कटु अनुभव मन में लिये आगामी सुखमय जीवन की आकांक्षा उर मे लिये नये वर्ष में पदार्पण कर रहे हैं। मनुष्य अपने जीवन में हर क्षण कुछ न कुछ नया सीखता रहता है। ईश्वर की मनुष्य को सबसे बड़ी देन बुद्धि है। इसी से वह अपने हित व अहित की बात सोचता है। दूसरे जीवों की अपेक्षा मनुष्य की सोच एवं क्षमता बहुत अधिक है जो स्वयं में एक चमत्कार है। मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म में पूर्ण स्वतन्त्र है किन्तु फल में स्वतन्त्र नहीं है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। (गीता 2/47)

यह भगवद्‌वचन है! मनुष्य पापाचरण करता है किन्तु फल शुभ कर्म का चाहता है जो संभव नहीं होता है। मनुष्य को प्रदान की गई अपार विचार शक्ति का प्रयोग सकारात्मक कार्य के लिये ही करना चाहिये नकारात्मक व विनाशात्मक कार्य के लिये नहीं।

गीता में भगवान् ने जीवन में हर क्षण योग के प्रयोग की बात कही है। योग की शिक्षा मनुष्य को सदा ही सकारात्मक दिशा में कार्य करने की प्रेरणा देती है। मनुष्य को योग की शिक्षा जीवन में उसी प्रकार से उतारनी चाहिये जिस प्रकार से वह अपने शरीर को आभूषणों से सजाता है। मानव का समग्र जीवन योग की शिक्षा से ही उज्जवल बन सकता है। योग की विद्या को जीवन में उतारने के लिये बहुत धैर्य की आवश्यकता होती है। भगवान् गीता में कहते हैं--

''योगो अनिर्विण्ण चेतसा'' (गीता 6/23)

अर्थात् बिना उकताये धैर्यपूर्वक योग करते रहना चाहिये। धैर्य पूर्वक लम्बे समय तक योग के अंग–उपांगों का अनुशीलन मनुष्य को जीवन में उन्नति के अन्तिम शिखर तक पहुँचा सकता है। महर्षि व पतंजलि एक सूत्र में बतलाते है कि साधक को लम्बे समय तक, निरन्तरता पूर्वक एवं सत्कारपूर्वक अभ्यास करने पर ही दृढ़ भूमि प्राप्त होती है। सत्कारपूर्वक का तात्पर्य है अत्यन्त श्रद्धा के साथ तत्परतापूर्वक एवं संयमित जीवन जीते

हुये साधना करने पर सिद्धि प्राप्त होती है। योग पशुवत मूढ़ व्यक्ति को भी श्रेष्ठ नर तथा फिर नारायण बना देता है। योगी को निष्काम भाव से साधना करते रहना चाहिये। वेद भगवान् की आज्ञा है–

''कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजिविशेत शतः समाः''

अर्थात् मनुष्य को निष्काम भाव से सौ वर्ष की आयु की इच्छा रखते हुये साधना रूप कर्म में रत रहना चाहिये। ऐसा करते हुये मनुष्य कर्म फल से लिप्त नहीं होता। भौतिक सुखों की इच्छा को त्याग कर आत्म लाभ की इच्छा से कर्मरत रहना चाहिये। योगी लोग आसक्ति रहित होकर आत्म शुद्धि के लिये कर्म करते ही रहते हैं।

''योगिनः कर्म कुर्वन्ति सगं त्यक्त्वा आत्मा शुद्धये''। (गीता 5/11)

सांसारिक कामनाओं के त्यागपूर्वक साधना करने से ही साधक सिद्धि को पा सकता है। गीता में भगवान कहते हैं–

''न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन''। (गीता 6/2)

योगी अपनी सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये ध्यान नहीं करता प्रत्युत चित्त शोधन के लिये ही प्रयासरत रहता है। चित्त की पूर्ण शुद्धि ही योगी का लक्ष्य है इसी से ही कालान्तर में वह कैवल्य लाभ प्राप्त करता है। पातंजल दर्शन का सूत्र है–

''सत्व पुरुषयो शुद्धि साम्ये कैवल्यम्'' (विभूतिपाद सू. 55)

अर्थात् बुद्धि (चित्त) एवं पुरुष दोनों की ही पूर्ण शुद्धि होने पर कैवल्य लाभ होता है। योगी का लक्ष्य कैवल्य लाभ प्राप्त करना है। तभी योगी सर्वथा क्लेशों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित रहता है।

आइये! नववर्ष की इस पावन वेला में हम सर्व शक्तिमान श्री प्रभु जी से प्रार्थना करें कि वे हमें सद्बुद्धि देते हुये हमारे योग और क्षेम का वहन करें अर्थात् जो स्थिति प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करें तथा प्राप्त स्थिति का भी वे संरक्षण करें। प्रभु का चिन्तन करने वाले की लौकिक आवश्यकतायें तो अनायास ही पूरी हो जाती हैं। अतः हम लोग पूर्णतया योगनिष्ठ होकर सतत् ध्यानाभ्यास करते रहें यह शक्ति प्रभु प्रदान करें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत्॥

इति शम्।

।। श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

सम्पादकीय–

श्री मद्भागवत महापुराण में योग शिक्षा

आचार्य (डा.) दासलाल जी महाराज

मैंने पिछले अंक में यह बताने का प्रयत्न किया था कि भगवान् कृष्ण चन्द्र ने उद्धव को यह स्पष्ट रूप से कह दिया है कि यज्ञ, दान, तप तथा तीर्थादि का फल स्वर्ग है जो क्षणिक है। भगवान् ने उद्धव को यह भी बतला दिया है कि बिना मुझ में तल्लीन हुये भक्ति का भाजन नहीं हो सकता। साधक भक्त ध्यानाभ्यास के द्वारा चित्त को शुद्ध करके निरन्तर समाधि का अभ्यास करे। कुसंग, तथा विषय संगियों से दूर रहे। विषयों का चिन्तन करने वाला मन एकाग्र नहीं कर पाता है। किन्तु जो भगवान् के स्वरूप में चित्त को स्थिर करने का प्रयास करते हैं वह चाहे विषयों में रत रहने वाला हो, धीरे–धीरे मेरी कृपा से उसकी विषयों से उपरति हो जाती है और वह शुद्ध अन्तःकरण वाला हो जाता है।

आगे फिर उद्धव ने प्रश्न किया–यह बताने का कष्ट करें कि मुमुक्ष साधक आपका किस रूप में, किस प्रकार और किस भाव से ध्यान करे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भगवान् बतलाते हैं–

सम आसन आसीनः सम कायो यथासुखम्।
हस्तावुत्संग आधाय, स्वनासाग्रकृतेक्षणः।।

हे उद्धव! जो सम स्थल पर आसन जमा कर शरीर को सीधा रखकर आराम से बैठ जाये, हाथों को अपनी गोद में रख ले और दृष्टि को अपनी नासिका के अग्रभाग में जमावे। तत्पश्चात् पूरक, कुम्भक और रेचक तथा इनके विपरीत क्रम को करते हुयें नाड़ियों का शोधन करे। प्राणायाम का अभ्यास धीरे–धीरे बढ़ाना चाहिये और उसके साथ–साथ इन्द्रियों को भी जीतने का अभ्यास करना चाहिये। हृदय में कमलनाल–गत पतले सूत के समान ॐकार का ध्यान करे। प्राण के द्वारा उसे ऊपर ले जाये और उसमें घण्टानाद

के समान स्वर स्थिर करे। उस स्वर का तांता न टूटने पाये। इस प्रकार प्रतिदिन तीन समय दस-दस बार ॐकार सहित प्राणायाम का अभ्यास करे। ऐसा करने से एक माह के अन्दर ही प्राणवायु वश में हो जाता है। इसके बाद चिन्तन करे कि ह्रदय एक कमल है वह शरीर के भीतर इस तरह से स्थित है मानो उसकी डण्डी तो ऊपर की ओर है और मुँह नीचे की ओर। अब ध्यान करना चाहिये कि उसका मुख ऊपर की ओर खिल गया है। उसके आठ दल (पंखुड़ियाँ) हैं और उसके बीचों-बीच पीली-पीली अत्यन्त सुकुमार कर्णिका गद्दी है। कर्णिका पर क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का न्यास करना चाहिये।

तदनन्तर अग्नि के अन्दर मेरे इस रूप का स्मरण करना चाहिये। मेरा यह स्वरूप ध्यान के लिये बड़ा मंगलमय है। मेरे अवयवों की गठन बड़ी ही सुडौल है। रोम-रोम से शान्ति टपक रही है। मुखकमल अत्यन्त प्रफुल्लित और सुन्दर है। घुटनों तक लम्बी चार भुजायें हैं। बड़ी ही सुन्दर और मनोहर गर्दन है। मरकत मणि के समान सुस्निग्ध कपोल हैं।

मुख पर मन्द-मन्द मुस्कान की अनोखी छटा है। दोनों ओर के कान बराबर हैं और मकराकृत कुण्डल झिलमिल कर रहे हैं। वर्षा कालीन मेघ के समान श्यामल शरीर पर पीताम्बर फहरा रहा है। श्री वत्स एवं लक्ष्मी जी का चिन्ह वक्षस्थल पर दायें बायें विराजमान है। गले में वनमाला लटक रही है। चरणों में नूपुर शोभा दे रहे हैं और एक-एक अंग अत्यन्त सुन्दर और ह्रदयहारी है। सुन्दर मुख और प्यार भरी चितवन कृपा प्रसाद की वर्षा कर रही है। उद्धव ! मेरे इस सुकुमार रूप का ध्यान करना चाहिये और अपने मन को एक-एक अंग में लगाना चाहिये।

बुद्धिमान योगी साधक को चाहिये कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच ले और मन को बुद्धिरूप सारथी की सहायता से मुझ में ही लगा दे, चाहे मेरे किसी भी अंग में क्यों न लगे। जब सारे शरीर का ध्यान होने लगे तब अपने चित्त को खींच कर एक स्थान में स्थिर करे और अन्य अंगों का चिन्तन न करके केवल मन्द-मन्द मुस्कान की छटा से युक्त मेरे मुख का ही ध्यान करे। जब चित्त मुखारविन्द में ठहर जाये तब उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करे। तत्पश्चात् आकाश का भी चिन्तन त्याग करके मेरे स्वरूप में आरूढ़ हो जाये और मेरे सिवा किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे। जब इस प्रकार चित्त समाहित हो जाता है तब जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योति से मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही अपने में मुझे और मुझ सर्वात्मा को अपने में अनुभव करने लगता है। जो योगी इस प्रकार ध्यान योग के द्वारा मुझमें अपने चित्त का संयम करता है

... की अनेकता, तत्सम्बन्धी ज्ञान और उनकी प्राप्ति के लिये होने वाले ... हो जाता है।"

... ने भक्तराज उद्धव को ध्यान के अभ्यास से अपने मन को ... करने की बात कही है। इसी लयता की प्रक्रिया को योग कहते हैं। ... बिना लयता प्राप्त किये भगवान में एकरूप होना कठिन है और अविद्या ... है। भगवान् में लयता प्राप्त होने पर अज्ञान तथा समस्त क्लेशों का ... और अन्त में योगी कैवल्य मुक्ति पा जाता है।

❁❁❁❁❁❁❁

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामपि न ज्ञायते।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनी पत्रास्थितं राजते।
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते।
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतो देहिनाम्।

—भर्तहरि नीति शतक

... लोहे पर जिस जल की बूंद पड़ने पर उसका नामोनिशान ... वही जल की बूंद कमल के पत्ते पर पड़ने से मोती ... है और वही जल की बूंद स्वस्ति नक्षत्र में समुद्र की ... है तब सचमुच मोती हो जाती है। इससे सिद्ध होता है ... में अधम, मध्यम और उत्तम गुण संगति के प्रभाव से ही ...

।। ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः।।

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा

डॉ. विजय सिंह

नवम् स्कन्ध में चन्द्रवंश में उत्पन्न राजर्षियों की कथा पन्द्रहवें, सोलहवें अध्याय में वर्णित है। महाराज गाधि के पुत्र तेजस्वी विश्वामित्र जी हुये हैं। इन्होंने अपने तपोबल से क्षत्रित्व का त्याग कर ब्रह्मतेज प्राप्त कर लिया था। विश्वामित्र जी का अतुल योग ऐश्वर्य का वर्णन पहले स्कन्धों में किया जा चुका है।

नवम् स्कन्ध के अठारहवें अध्याय में महाराज नहुष जिनके छः पुत्र थे—यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति और कृति का वर्णन है। ऋषियों के श्राप से जब नहुष इन्द्र पद से च्युत होकर अजगर योनि को प्राप्त हुये तब राज्य का शासक ययाति बने। राजा ययाति स्वयं शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा को पत्नी रूप में स्वीकार किया। देवयानी ने ययाति के पक्षपात की बात कह शुक्राचार्य को क्रुद्ध कर दिया। शुक्राचार्य ने ययाति को शाप दिया—जा तेरे शरीर में बुढ़ापा आ जाये। ययाति बूढ़ा हो गया। ययाति ने शुक्राचार्य को प्रसन्न किया तब उन्होंने वरदान दिया—जाओ! जो प्रसन्नता से अपनी जवानी दे दे, उससे अपना बुढ़ापा बदल लो।

ययाति ने अपनी राजधानी आकर अपने बड़े पुत्र यदु से कहा—बेटा, तुम अपनी जवानी मुझे दे दो और अपने नाना (शुक्राचार्य) का दिया बुढ़ापा तुम स्वीकार कर लो। यदु ने साफ इन्कार कर दिया। इसी प्रकार अन्य पुत्रों ने बुढ़ापा लेने से इन्कार कर दिया। अन्त में अपने छोटे पुत्र पुरु को भी कहा। पुरु ने कहा—पिताजी पुत्र का शरीर पिता का ही दिया हुआ है। ऐसे में पिता के उपकारों को चुकाना किसके लिये सम्भव है। पुरु ने बड़े आनन्द से अपने पिता का बुढ़ापा स्वीकार कर लिया। इस प्रकार एक हजार वर्ष तक उन्होंने चंचल इन्द्रियों के साथ मन को जोड़कर अपने प्रिय विषय को भोगा। परन्तु इतने पर भी ययाति की भोगों से तृप्ती न हो सकी। एक दिन उन्हें अपने अधःपतन पर शोक एवं वैराग्य हुआ। उन्होंने विचारा विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शांत नहीं होती। जैसे घी की आहुती डालने से आग और धधक उठती है, वैसे ही भोगवासनायें भी भोगों से प्रबल हो जाती हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।4।।

इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि वे बड़े–बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती हैं। ऐसा विचार कर ययाति ने पुरु को जवानी लौटा दी। राज्य को पुत्रों में बाँट वन में जाकर ययाति ने समस्त आसक्तियों से छुट्टी पा ली। आत्म–साक्षात्कार के द्वारा त्रिगुणमय लिंग शरीर (कारण) नष्ट हो गया। उन्होंने परब्रह्म परमात्मा वासुदेव में मिलकर वह भागवती गति प्राप्त की, जो भगवान् के प्रेमी संत को प्राप्त होती है–

स तत्र निर्मुक्त समस्त सङ्ग
आत्मानुभूत्या, विधुतत्रिलिङ्गः।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे
लेभे गतिं भागवती प्रतीतः।।25।।

अ. 19 स्कं. 9

इस स्कन्ध के बीसवें अध्याय में राजा दुष्यन्त एवं उनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत की कथाओं का विवरण है।

श्री शुकदेव जी ने कहा–परीक्षित्! राजा पुरु के वंश में ही तुम्हारा जन्म हुआ है। इस परम्परा के बहुत से वंशधर राजर्षि और ब्रह्मर्षि हुये हैं। तुम्हारे पूर्वज रौद्राश्व के दस पुत्र घृताची अप्सरा के गर्भ से हुये। सबसे बड़े पुत्र ऋतेय का पुत्र रंतिभार तथा रंतिभार के सुमति, ध्रुव, अप्रतिरथ। अप्रतिरथ का पुत्र कण्व। कण्व का पुत्र मेधातिथि। सुमित का पुत्र रैभ्य तथा रैभ्य का पुत्र दुष्यन्त हुये हैं।

एक बार राजा दुष्यन्त आखेट खेलते हुये वन में कण्व ऋषि के आश्रम में जा पहुँचे, वहाँ विश्वामित्र जी की पुत्री शकुंतला जो कण्व ऋषि द्वारा पालित थी के साथ गन्धर्व विवाह कर सहवास किया और दूसरे दिन अपने राजधानी लौट आये। समय आने पर शकुन्तला को एक पुत्र हुआ। महर्षि कण्व ने वन में ही भरत का जातकर्म संस्कार विधिवत् किया। भरत बचपन में ही इतना बलवान था कि सिंहों को बलपूर्वक बाँध लेता और उनसे खेला करता **''बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः।''**

यह बालक भगवान का अंशावतार था। जब शकुन्तला बालक को लेकर कई वर्षों बाद राजा दुष्यन्त के पास गई परन्तु राजा दुष्यन्त ने अपनी निर्दोष पत्नी और पुत्र को स्वीकार नहीं किया तब आकाशवाणी हुई–दुष्यन्त! पिता ही पुत्र के रूप में उत्पन्न होता

है। तुम शकुन्तला का तिरस्कार नहीं करो और अपने पुत्र का भरण–पोषण करो। तुम ही इसके पिता हो। राजा भरत ने गंगासागर से गंगोत्री तक सहस्त्रों यज्ञ किये और बहुलता से दान किया जैसे पूर्ववर्ती कोई सम्राट नहीं किया था।

अन्त में सार्वभौम सम्राट भरत ने यही निश्चय किया कि लोकपालों को भी चकित कर देने वाला ऐश्वर्य, सम्पत्ति, अखण्डशासन और यह जीवन मिथ्या ही है। यह निश्चय कर वे संसार से उदासीन हो गये। भरत जी को मरुदगणों ने भरद्वाज नामक बालक वंश नष्ट न हो इसलिये दत्तक पुत्र के रूप में दिया।

इक्कीसवें अध्याय में महान भागवत् राजा रंतिदेव की कथा कही गई है। भरद्वाज के वंश में रंतिदेव हुये हैं। इनका निर्मल यश लोक परलोक में गाया जाता है। रंतिदेव आकाश के समान बिना उद्योग के दैववश प्राप्त वस्तु का ही उपभोग करते। वे संग्रह–परिग्रह, ममता से रहित धैर्यशील थे। वे अपने कुटुम्ब के साथ दुःख भोग रहे थे। एक बार अड़तालिस दिन बिना खाना–पानी के बीत गया। उनचासवें दिन प्रातःकाल उन्हें कुछ घी, खीर, हलवा और जल मिला। भूख प्यास के कारण उनका परिवार मरणासन्न था। ज्यों ही प्राप्त भोज्य उन लोगों ने करना चाहा। त्यों ही क्रमशः ब्राह्मण अतिथि इसके पश्चात् शूद्र अतिथि अन्त में एक कुत्ते को लिये एक और अतिथि प्रकट हुआ। राजा ने सभी को ईश्वर स्वरूप समझते हुये भोजन कराया और जल पिलाया। अब उनके पास मात्र एक मनुष्य के पीने भर का जल बचा था। वे आपस में जल बाँट कर जब पीना चाह रहे थे उसी समय उन्होंने सुना एक करुण आवाज–मैं अत्यन्त नीच हूँ मुझे जल पिला दीजिए। राजा रंतिदेव उस करुण आवाज से द्रवित हो उठे और मन में विचारा–हे प्रभो! मैं आठों सिद्धियों सहित मोक्ष नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित होकर उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे किसी प्राणी को दुःख न हो–

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा–
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेह भाजा–
मन्तःस्थितो येन भवन्त्य दुःखा।।12।।

अ. 21 स्क. 9

यह दीन प्राणी सुखी हों यही भावना से पूरित रंतिदेव स्वयं कुटुम्ब सहित अत्यन्त

भूखे एवं तृषित होते हुये भी भोज्य और पेय सम्पूर्णता से अतिथियों को देकर स्वयं सुखी अनुभव कर रहे थे।

शुकदेव जी कहते हैं–परीक्षित! यह भगवान की ली जाने वाली परीक्षा थी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों राजा रंतिदेव के सामने प्रकट हो गये। रंतिदेव ने सभी को प्रणाम किया और भक्तिभाव से अपने मन को भगवान वासुदेव में तन्मय कर दिया। त्रिगुणमयी माया जागने पर स्वप्न के समान नष्ट हो गयी।

रंतिदेव के अनुयायी भी उनके संग के प्रभाव से योगी हो गये और सब भगवान के ही आश्रित भक्त बन गये।

तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः।
अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः।। 18।।

अ. 21 स्क. 9

इसी वंश परम्परा में एक हस्ती नाम के राजा हुये जिन्होंने हस्तिनापुर बसाया। इनके वंशजों में नीप ने शुक की कन्या कृत्वी से विवाह किया था। उससे ब्रह्मदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ब्रह्मदत्त बड़ा योगी था। इनका पुत्र विष्वकसेन जैगिषव्य के उपदेश से योगशास्त्र की रचना की। ''जैगीषव्योपदेशन योगतन्त्रं चकारह''

सकृत्व्याम शुककन्यायां ब्रह्मदत्त मजी जनत्।
स योगी गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात सुतम्।।20।।

अ. 21 स्क. 9

आगे की वंश परम्परा में कृति का जन्म हुआ जिसने हिरण्यनाभ से योग विद्या प्राप्त की थी–

सुपार्श्वात् सुमितिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः।
कृतिर्हिरण्यनाभाद् यो योगं प्राप्य जगौस्म षट्।।28।।

अ. 21 स्क. 9

गुरु भक्ति की आत्मकथा

देवेन्द्र सिंह यादव, रिटा. प्रिंसिपल ग्राम पो. जखेरा (कासगंज) उ.प्र.

जन्म तो मेरा सतयुग के तपोमय पवित्र एवं शान्त वातावरण में हुआ था। धरती माता की सुरम्य तपस्थलियों के आश्रमों में निवास करने वाले महान् एवं तपस्यारत् ऋषि मुनियों, तपोबल सम्पन्न समय मेरा उद्‌भव हुआ था। अपने पल्लवन तथा परिपोषण का श्रेय तत्कालीन दैवीय शक्तियों को है। यह विचार मेरी अन्तरङ्ग निष्ठा में समाहित है।

तपस्या की गति निर्वाध चलती रहे, इस हेतु ईश्वरीय विधान के द्वारा सेवक के रूप में गुरुभक्ति की साक्षात् प्रतिमा बन शिष्यगण पूर्ण मनोयोग से अपने-अपने गुरुओं की निःस्वार्थ सेवा करते रहते थे। प्रतिकार में गुरुदेव द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद और कृपा उन्हें प्राप्त होती थी जो भावी जीवन की आधारशिला बनती थी।

मैं शनैः शनैः गुरु भक्तों के सन्मार्ग से होती हुई जनता जनार्दन तक पहुँची। समयान्तर में मुझे राजा महाराजाओं के उदार हृदयों में प्रवेश के अवसर मिलने लगे। अब मैं बचपन की भोली बालिका नहीं रह गयी थी। किशोरावस्था के आते-आते मुझे त्रेता युग का द्वार खुला मिल गया। निःशंक होकर उसमें प्रविष्ट हो गयी। देखा, गुरु वशिष्ट के शिष्य राजा दशरथ, ऋषि विश्वामित्र के शिष्य राम-लक्ष्मण के हृदयों में मैंने अपनी किशोरावस्था के साक्षात दर्शन पाये।

समय की गति बड़ी बलवान होती है। वह निर्वाध चलती ही रहती है। द्वापर युग की ओर झाँका तो देखा वातावरण मुझे लालायित नेत्रों से देखता हुआ मेरे स्वागत में खड़ा है। अनुभव किया इस युग को मेरी अतीव आवश्यकता है। मैं गुरु भक्त शिष्यों के हृदयों में प्रसुप्त चेतना को कुरेद कर अपना स्थान बनाने लगी फलस्वरूप सन्दीपनि के श्रीकृष्ण, गुरु द्रोणाचार्य के शिष्यगण कौरव और पाण्डव जिनमें अर्जुन गुरुभक्त था। शिष्य एकलव्य को द्रोण की मिट्टी की मूर्ति में गुरुदेव भगवान का साक्षात्कार हुआ। उसे अद्वितीय धनुर्विद्या प्राप्त हुई। गुरु के गुरुदक्षिणा माँगने पर उसने अपने दाहिने हाथ का अँगूठा काट कर गुरु के चरणों में रख दिया, मैं प्रसन्न थी। मन ही मन प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया ''एकलव्य तेरी गुरुभक्ति तथा कीर्ति इतिहास में अमर रहेगी''।

मेरा यौवन अपनी पराकाष्ठा को पाने लगा तभी एक अद्वितीय गुरुभक्त कर्ण से मेरी भेंट हुई जो गुरु द्रोणाचार्य से अवहेलित और तिरस्कृत होकर समाज की कुरीतियों के प्रति कुण्ठा पाले था महर्षि परशुराम के हृदय में अनन्य स्थान बनाकर अनुपम बाण विद्या प्राप्त की किन्तु क्षत्रिय होकर अपने को ब्राह्मण बताकर असत्य भाषण किया था। गुरु सेवा में लीन कर्ण ने कीट दंश की असहनीय पीड़ा सहकर गुरुभक्ति का अलौकिक उदाहरण प्रस्तुत किया। निद्रा टूटने पर परशुराम जी यह सोचकर कि इतनी पीड़ा की सहनशक्ति क्षत्रिय में ही हो सकती है ब्राह्मण में नहीं उसे शाप दे डाला "जो विद्या तूने झूठ बोलकर मुझसे प्राप्त कर ली है तेरे जीवन के अन्तिम समय काम नहीं आयेगी। तू उसे भूल जायेगा।" कर्ण ने आशीर्वाद स्वरूप उस शाप को शिरोधार्य किया। और मैं मूक श्रोता बनी अवाक् देखती रही। कुछ कर न सकी।"

महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने अपने प्रिय अर्जुन को गीता का सम्पूर्ण ज्ञान दे डाला, वे ज्ञान गुरु थे गुरुभक्त अर्जुन उनका पूर्ण समर्पित अनुगामी आज्ञा पालक बना।

द्वापर के अन्त आते-आते मैं जन साधारण के अन्तर्मन में व्याप्त हो चुकी थी मेरा स्वरूप अद्वितीय बन चुका था अपने को अप्रतिम मानने लगी थी। तब तक कलयुग आ गया। तुलसीदास के गुरु नरहरिदास, कबीर के गुरु रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। सन्त सम्प्रदाय के समय में गुरु में ईश्वरत्व का निरूपण हुआ। हमारी गुरुपरम्परा में दादा गुरु महाप्रभु, योगीराज श्री रामलाल जी में सदाशिव शंकर का रूप गुरुशिष्यों को मिला। हमारे गुरुदेव भगवान श्री चन्द्रमोहन में विशिष्ट शिष्य साधकों ने चतुर्भुज नारायण के दर्शन किये।

मैं गुरुभक्ति अनेक विशिष्ट गुरुभक्तों की साधना को निर्विघ्न प्रवाहित करते हुए विश्व कल्याण की कामना करती रहूँगी। सर्वहारा से मुझे यह शक्ति प्राप्त है।

मैं गुफा वाला बाबा हूँ

जगदीश राए बंसल ''अधम'' 9212434003

हमारे परम पूज्य दादा गुरुदेव अखिल ब्रह्माण्ड नायक जगत नियन्ता सिद्धों के महासिद्ध प्रभू श्री रामलाल जी महाराज आदिकाल से नेपाल हिमालय में समाधिस्थ रहने वाले, तीनों लोकों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले महानतम योगी सोलह निर्माणकाय शरीरों में एक साथ इस अवनि मण्डल पर पदार्पण का अभिप्राय है कि–

परित्राणाय साधूनाम विनाशाय च दुष्कृताम्....।

लौकिक व्यवहार से महा प्रभू जी की आज्ञा शिरोधार्य कर आपका अविर्भाव सन् 1888 रामनवमी के दिन गुरुओं की पवित्र नगरी अमृतसर में पिता पं. गंडाराम जी के घर माता भागवन्ति की पवित्र कोख से हुआ। शैशवावस्था से ही आप में अनेकानेक चमत्कारी बातें देखी गई। बीस–बाईस वर्ष की अवस्था में ही आप तीर्थलाभ लेते हुए संवाई पधारे। यहाँ आपने लाला प्यारेलाल के जंगल बाग में स्थान चुन कर एक गुफा बनवाई। आगन्तुक भक्तजनों को खुला दर्शन–आशीर्वाद प्रसाद देने लगे। जीवन तत्व साधन, नेती, धोती, षटकर्म आदि होने लगे। असाध्य कार्य साध्य होने लगे। अष्टांग योग, कुण्डलिनी जागरण, शक्तिपात आदि एवं आपकी आत्म ज्योति से कितनों के जीवन आलोकित होने लगे। आप एक ही समय में अलग–अलग स्थानों पर कार्यरत रहते थे। एक बार जब ऋषिकेश थे, उसी समय नासिक थे उसी समय संवाई थे। कुश्ती–लड़वाना तो आपका और दर्शकों का हास्य विनोद ही था।

संवाई में लगभग तीन वर्ष व्यतीत करने के पश्चात् आपने अपने मन में ठान लिया कि अब हमको हिमलाय नेपाल जाना है। भक्तमण्डल की जानकारी में जब यह बात आई तो मानो ताड़ के वृक्ष को बिजली मार गई। परिणामतः परम भक्त गुलाब को आगे करके जगत नियन्ता बाबा जी से अपनी–अपनी वाणी द्वारा बाबा से कहीं नहीं जाने की मनुहार लगाई। प्रत्युत्तर में अन्तर्यामी श्री प्रभुजी ने कहा कि लल्ला हमको लम्बी समाधी लगानी है, अतः हम गुफा में प्रवेश करते हैं। आप लोग बाहर से कुण्डी बन्द कर लेना। श्रद्धालु भक्तों ने हृदय तो प्रभू जी में लगा रखा था अतः उन्होंने बाहर ताला ही जड़ दिया। बाबा जी की रखवाली के लिए सम्भ्रान्त भक्तों ने टोलियाँ बना कर पहरा देना

प्रारम्भ कर दिया। जंगली जानवरों से सावधानी के नाम पर लाठियों से लेस हो कर रात भर लालटेनों के प्रकाश में कीर्तन–भजन–गपशप करते चौंकन्ने रहते। मगर होता वही है **जो खुदा मन्जूरे होता है।**

एक अर्धरात्रि पश्चात् लीलाधारी–सिद्धों के सम्राट प्रभुजी अणीमा सिद्धि से गुफा के बाहर आए और अपना स्थूल रूप बना कर आकाश मार्ग से अपने गन्तव्य हिमालय को उड़ चले। उनके शरीर से सफेद सफेद दिव्य प्रकाश निकल रहा था। मार्ग में अपने खेतों में हल चला रहे संवाई वाले भक्त सूखा धीमर की दृष्टि जब उक्त उड़ती हुई भयावह पर पड़ी तो उसकी जान लबौं पर आ गई। शरीर कांप गया, पसीना झरने लगा, हाय! यह क्या बला आ गई? यह तो मेरी तरफ ही आ रही है....? भवभय हारी–अन्तर्यामी प्रभू जी यह सब जान गए अतः तुरन्त भू तल पर उतरे, बोले सूखा डरो नहीं, **मैं गुफा वाला बाबा हूँ,** हिमालय जा रहा हूँ, तुम यह बात किसी को मत कहना।.....आशीर्वाद।

सूखा जो भय से गीला हो गया था, पुनः सूखा हो कर गद्गद् हो गया और अपने भाग्य पर इठलाता हुआ गाँव की तरफ भागा। सूखा चिल्लाया–बाबा गए.....बाबा गए..... मैंने देखा....अभी गए....मेरे से मिले...हिमालय गए....उधर गए....! सूखा की मुनादी से **गली–गली मच गया शोर–बाबा गए हिमालय की ओर।** परिणामतः गुफा पर ग्रामीणों का जमावड़ा लग गया। तरह–तरह के कयास लगाए जाने लगे। अन्ततः निर्णय लिया गया कि ताला खोल कर बाबा को देखा जाए। सब को खामोश कर ताला खोला गया। मगर यह क्या? गुफा की कुण्डी अन्दर से बन्द है। अब क्या करें? सूखा पर तो घड़ों पानी गिर गया। मगर शीघ्र ही स्वयं को सम्भाल कर सूखा अपनी बात पर अडिग रहा। बोला मैं बाबा का प्रत्यक्षदर्शी हूँ.....आदि। अतः अब पुनः वाद विवाद होने लगे। येन केन प्रकारेण एक तरफ की दीवार गिराई गई और कोई चारा था ही नहीं। भक्त ज्वाला लालटेन ले कर, जय बाबा–जय बाबा कहता कहता गुफा में उतर गया। आश्चर्य? महान् आश्चर्य? गुफा अन्दर से खाली पाई। कहाँ गए बाबा? कैसे गए बाबा? क्यों गए बाबा? इस अवसाद से हतोत्साहित जनता अपना धैर्य खो बैठी। अब हम क्या करें? कहाँ मरें....? प्रत्युत्तर में श्री सिद्ध पीठ गुफा से एक ज्वलंत उद्घोष हुआ कि **लल्ला हम बीस वर्ष बाद आऐंगे, पहचान सको तो पहचान लेना।** बाबा जी अपना वचन निभाने को पधारे भी थे। उपस्थित जनों की हालत तो यह हो गई कि **अपना हारा–जोरू का मारा, कौन कहे?**

लौकिक दृष्टि से आपने सन् 1938 में बसन्त पंचमी की रात्रि दो बजे अपनी जन्मभूमि पर अपने भौतिक शरीर का त्याग किया। पश्चात् आपने अपना नया शरीर धारण कर मेरू गिरि के स्वर्ण शिखर पर समाधिस्थ रह कर अपने संस्कारी बच्चों पर अपनी विभूति के बादल बरसा रहे हैं। इसी बात पर मुझे एक बात आई–

श्री प्रभू जी की चरण रज में समर्पित प्रभुजी की एक लाड़ली और निष्ठावान आदरणीय बहन जी ने एक विलक्षण प्रसंग का वर्णन किया कि सिद्धों के महासिद्ध मेरे गुरुदेव श्री रामलाल जी महाराज से एक दिन एक साक्षात्कार के चलते मैं हठ कर बैठी कि गुरुजी आप अपने अन्य रूपों के दर्शन कराने की कृपा करें। यहाँ अन्य रूपों के दर्शन का अभिप्राय, प्रभुजी के सोलह निर्माण काय शरीरों के दर्शन करने का रहा होगा अथवा इन सोलह शरीरों से पहले के रूपों के दर्शन से रहा होगा अथवा इन सोलह शरीरों के पश्चात् के रूपों से रहा होगा। यह सब तो श्री प्रभुजी की लाड़ली ही जाने। मगर त्रिजग पावन, लीलाधारी श्री प्रभुजी महाराज ने जो कृपा लीला दर्शाई वह महाभारत के कुरुक्षेत्र में भगवान श्री कृष्ण के विराट रूप की याद दिलाती है।

श्री प्रभुजी ने अपने शरीर से दिव्य अखण्ड तेज प्रकाश प्रकट किया, जैसे एक साथ अनेक सूर्य उदय हो गए हों। मगर यह प्रकाश गर्म न होकर चन्द्रमा की चाँदनी सा शीतल था। उस दिव्य प्रकाश में जटाधारी शंकर भगवान के दर्शन हुए। पश्चात् उस प्रकाश में दशरथ–कौशल्या नन्दन श्रीराम के दर्शन हुए, पश्चात् उस प्रकाश में सीता राम के दर्शन हुए, पश्चात् उस प्रकाश में सीता राम लक्ष्मण के दर्शन हुए। पश्चात् उस प्रकाश में नन्द यशोदा लाल कान्हा के दर्शन हुए। पश्चात् उस प्रकाश में क्रमशः गुरु नानक–महात्मा बुद्ध–महावीर–ईसा मसीह....... इत्यादि के दर्शन हुए और अन्त में हमारे प्यारे प्रभूजी ही प्रभूजी .....गुरुदेव शरणं–गुरुदेव नमामि।

सिद्धि अगम्यं तवपाद् पद्मे।

प्रबुद्धं शुभेशं गुरु देव नमामि।।

अब देखिए, हम आरती में दैनिक गाते हैं कि–

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः

अर्थात् गुरुदेव ही ब्रह्मा–विष्णु–महेश हैं। यह हमारा अक्षर ज्ञान है। यानि हम जानते हैं मगर मानते नहीं हैं। उपरोक्त प्रसंग में काल चक्र–युग चक्र और जग चक्र को एक साथ घुमाने वाले सर्वसमर्थ्य श्री प्रभु जी ने स्पष्ट कर दिया है कि हमारे गुरुदेव परब्रह्म तत्व, अथवा परम तत्व अथवा सद्गुरु तत्व अथवा परातत्व हैं। ये अनेक में एक हैं–एक थे–एक रहेंगे। केवल भावना प्रबल होनी चाहिए।

भावना के वश मेरे दयालु, नंगे पैरों आते हैं।

आर्त पुकार सुन निज कानों, अरसा नहीं लगाते हैं।।

जय गुरुदेव।

श्रद्धावान लभते ज्ञानम्

सूरजमल शर्मा, रोहतक (हरियाणा)

श्रद्धावाल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिम चिरेणाधि गच्छति।।

4 (39) श्रीमद्‌भगवद गीता

श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को बताते हैं कि ज्तिेन्द्रिय, तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरुष ज्ञान को प्राप्त होता है, ज्ञान को प्राप्त होकर शीघ्र ही भगवत् प्राप्ति रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन परम पूज्यनीय गुरुदेव महाराज ने अपने प्रवचन में कहा है कि जो योग मार्ग में चलना चाहते हैं उनके लिये श्रद्धा सबसे पहली और जरूरी है। श्रद्धा योगी की माँ की तरह रक्षा करती है, जिस प्रकार माँ अपने बच्चे की हर प्रकार से रक्षा करती है, उसी प्रकार से श्रद्धा भी योगी की रक्षा किया करती है। इस पर व्यास जी भाष्य में कहते हैं–

'श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते'

श्रद्धा के आने के बाद साधक के मन में साधना के प्रति उत्साह बढ़ जाता है–दृढ़ता आ जाती है।

जो जो जिस–जिस शरीर की श्रद्धापूर्वक उपासना करता है भगवान् उन–उन में ही उनकी श्रद्धा बढ़ा देते हैं। इस तरह से वे एक प्रकार से उन्हीं की उपासना करते हैं। किन्तु सगुण उपासना को भगवान ने महत्त्व दिया है इसलिये अखिलात्मा भगवान ने अव्यक्त के चिन्तन की अपेक्षा अपने नाम रूप का चिन्तन श्रेष्ठ माना क्योंकि उनके नाम रूप के अन्दर हमारा बुद्धि और मन जल्दी जा सकता है। वीतरा पुरुषों में अपने मन बुद्धि को लगाओ उनकी कथायें सुनो–दिव्य चरित्र सुनो। इस प्रकार से श्रद्धा को बढ़ाते–बढ़ाते योग विधि से अपने मन बुद्धि उनमें लय करते चले जाओ उनके ध्यान से लयता चट–पट होती है। यदि वे ध्यान में दीखने लग जाते हैं तो साधक की सभी कामनायें संकल्प मात्र से पूरी हो जाती हैं।

श्रद्धा ही मनुष्य को योगी बनाती है और परमात्मा तक पहुँचा देती है। अतः श्रद्धा युक्त होकर अपने को साधना में लगाओ।

परमात्मा का रूप श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा बन जाती है परमात्मा उसके लिये वैसे ही बन जाता है।

श्रद्धावान ही तत्व ज्ञान को पाया करता है, इसके विपरीत जो व्यक्ति अज्ञानी है, श्रद्धारहित तथा संशय आत्मा है वह नष्ट हो जाता है। इसलिये पहली बात यह है कि मनुष्य के मन में श्रद्धा होनी चाहिये श्रद्धा सतोगुणी वृद्धि का फल है। श्रद्धावान व्यक्ति श्रद्धा के आधार पर अपने सभी कार्य सिद्ध कर लिया करता है।

आपने एकलव्य और द्रोणाचार्य की घटना सुनी होगी। द्रोणाचार्य ने एकलव्य को धनुर्विद्या सिखाने से इन्कार कर दिया था। एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बना ली उसे ही गुरु मानकर ध्यान व श्रद्धा पूर्वक विद्या का अभ्यास करता रहा। एक दिन अर्जुन और एकलव्य का आमना सामना हो गया। एकलव्य ने अर्जुन के सारे बाण काट दिये। अर्जुन ने उससे पूछा–तू किसका शिष्य है? उसने कहा–मैं द्रोणाचार्य का शिष्य हूँ। अर्जुन ने एकलव्य को गुरु द्रोणाचार्य से मिलाया गुरुजी ने एकलव्य से पूछा–'बेटा, तुम किसके शिष्य हो। एकलव्य ने उत्तर दिया–गुरुदेव मैं आपका शिष्य हूँ। एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्ति बना रखी थी, उसी का ध्यान करके अभ्यास करता था। वह मूर्ति क्रियात्मक हो गई उसकी श्रद्धा के कारण वह बना हुआ चित्र उस मूर्ति में प्रवेश हो गया द्रोणाचार्य को इस बात का ज्ञान नहीं हुआ किन्तु उसके बने हुए चित्र ने एकलव्य को सारी विद्या सिखा दी। कायदे से तो द्रोणाचार्य ने विद्या सिखाई नहीं थी। उसने अपनी श्रद्धा से, योग शक्ति से द्रोणाचार्य का चित्र का आकर्षण करके उससे विद्या सीखी थी।

पूज्य गुरुदेव महाराज अपने प्रवचनों में बताते थे कि एक योगी अपनी शक्ति से चित्त निर्माण करता है और दूसरा वह श्रद्धा के आधार पर जिस पुतले का चिन्तन करेगा उसका निर्माणचित्त आ जायेगा और सारे गुण उसको दे देगा।

''श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्दः स एव सः''

अर्थात् परमात्मा का रूप श्रद्धामय है उनको जो जिस रूप में चाहेगा वे वैसे ही बन जायेंगे।

श्रद्धा ही मनुष्य को योगी बनाती है और परमात्मा तक पहुँचा देती है। आज आप सब उस सर्वशक्तिमान की छत्रछाया में बैठे हो। अपने प्यार से, अपनी श्रद्धा से, अपनी सेवा से उनके चरणों से गठबन्धन जोड़ लो। आप गुण देखने वाले बनोगे तो आपके अन्दर स्वतः गुण भरते चले जायेंगे और कोई दोषों का पुतला है तो अपने आप भोगता रहेगा। आपको क्या चिन्ता पड़ी है अपनी जिम्मेदारी लो दूसरों की जिम्मेदारी फिर बाद

में ले लेना। उसके कर्म तो महाप्रभु जी स्वयं देख लेंगे। आप अपने मन को पक्का करके उनके चरणारविन्द का चिन्तन करो, उनके चरणों का ध्यान करो। आँख बन्द करके उन्हें अपने हृदय में छुपा लो। उनके संकल्प में आ जाओ कि ये हमारे हैं उनकी कृपा से यम आपके पास फटक नहीं पायेगा। यमराज की ताकत नहीं कि आपको आँख उठाकर देख ले। अतः आप सब श्रद्धा से मन्त्र जाप करो, घोट कर पी जाओ। प्रभु जी के चरणों का अनन्य भाव से चिन्तन करो।

श्री रामलाल प्रभवे नमः

ज्योति में ज्योति समाऊँ

(प्रेषक–आचार्य ब्रह्मचारी बृजमोहन वशिष्ठ)

तुम मेरे मैं तेरा प्रभु जी
तुम बिन रह न पाऊँ
ऐसी कृपा करो सतगुरु प्यारे
हर दम दर्शन पाऊँ
रोम–रोम में देखूँ तुम को,
नैनों बीच समाऊँ
स्वास–स्वास में रमे हो प्यारे
सोहम् शब्द सुनाऊँ
बृजमोहन के प्राण प्यारे
ज्योति में ज्योति समाऊँ।

जन्म-दिवस पर—

आश्रम के हीरा

दास लाल हैं लाल प्रभु के,
आश्रम के ये हीरा हैं।
विद्या बुद्धि के चतुर योद्धा,
मन के अति गम्भीरा हैं।
गुरु देव के आज्ञा पालक,
योग करें कराते हैं।
सिद्धयोग के सम्पादक हैं
योग का मार्ग बताते हैं।
गुरुदेव से घूम-घूम कर,
सबको ज्ञान सिखाते हैं।
नित्य नियम से करें साधना,
मन में अहम् न लाते हैं।
राग द्वेष नहीं रहता मन में,
सब सत्संगी अति प्यारे हैं।
शतायु हों मेरे भाई,
पूर्ण स्वस्थ निरोग रहें।
बृजमोहन की शुभ कामनायें,
सदा तुम्हारे साथ रहें।
युग-युग जीवो प्रचार करो,
इसी प्रकार जीवन पार करो।
हिमाचल के रहने वालो,
शिव से पुराना नाता है।
जो भी शरण गुफा की आता,
कैलाश का फल वो पाता है।

(प्रेषक—आचार्य ब्रह्मचारी बृजमोहन वशिष्ठ)

प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण कर्म

आचार्य डॉ. केशवराम शर्मा

''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छलं समाः।'' ''मनुष्य इस संसार में कर्मरत रहता हुआ ही एक सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना करे।'' श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान् कृष्ण ने ''कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'' का उपदेश देकर अर्जुन को सतत् कर्मशील बने रहने की प्रेरणा दी है। वास्तव में विविध कार्यों में व्यस्त रहना मनुष्य का परम धर्म है। इस संसार का एक नाम 'जगत्' है, जिसका अर्थ है—'गतिरस्मिन् विद्यते इति जगत्' अर्थात् गतिशीलता का ही दूसरा नाम 'जगत्' है : मनुष्य की स्थिति चिकने खम्भे पर चढ़ने वाले बन्दर जैसी है। जब तक ऊपर चढ़ने का प्रयास करता रहेगा, बढ़ता रहेगा, किन्तु जैसे ही विश्राम करना चाहेगा वह नीचे खिसकने लगेगा। अतः कल्याणकामी मनुष्यों को सतत् आगे बढ़ने के लिए यत्नशील रहना चाहिए।

अनेक बार हम देखते हैं कि बहुत प्रयास करने पर भी अत्यल्प फल मिलता है और कभी–कभी मनुष्य उससे भी वंचित रह जाता है। ऐसी स्थिति में वह सोचने लगता है कि ईश्वर की सत्ता कपोल–कल्पना मात्र है और यदि है भी तो उस जगदात्मा के यहाँ कोई न्याय नहीं है। वस्तु–स्थिति यह है कि उस प्रभु के संकेत के बिना एक पत्ता भी टस से मस नहीं होता। उसकी न्याय–तुला भी शाश्वत् निर्दोष रहती है। अब प्रश्न यह उठता है कि तब मनुष्य को कर्मानुकूल फल क्यों नहीं मिलता? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि फल तो निश्चय ही कर्मानुकूल मिलता है, किन्तु उसे न्याय–तुला पर भली–भांति नाप–तौलकर दिया जाता है। यहीं से हमारे प्रस्तुत विषय का श्रीगणेश होता है।

तीन प्रकार के कर्म

हमारे कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(1) संचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म तथा (3) क्रियमाण कर्म। संचित कर्म जन्म–जन्मांन्तर से एकत्र होते रहते हैं। उनके आधार पर प्राणी को शरीर त्यागने के पश्चात् नई योनि, माता–पिता, परिवार, सम्पन्नता–विपन्नता तथा सुन्दर

या असुन्दर, स्वस्थ या अस्वस्थ शरीर आदि की प्राप्ति होती है।

प्रारब्ध कर्म, संचित कर्मों काएक अंश मात्र होते हैं। हमारे क्रियमाण कर्मों के फल के साथ इनका सीधा सम्बन्ध होता है। यदि क्रियमाण कर्म शुभ तथा फलानुकूल हैं और प्रारब्ध कर्म भी संवादी हों तो तत्काल श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है। स्पष्ट है कि क्रियमाण कार्य के साथ प्रारब्ध कर्म का जिस अनुपात में अनुकूल या प्रतिकूल योग होगा, वैसा ही फल मिलेगा। प्रारब्ध कर्म अति श्रेष्ठ होने पर प्रतिकूल क्रियमाण कर्मों का भी शुभ परिणाम मिलता है। यथा पाप-कर्म करके भी धन-वैभव, अधिकार का पद और बन्धु-बान्धवों का सुख भोगता रहे, दुराचारी होकर भी सम्मानित होता रहे, थोड़े प्रयास से ही विद्या-बुद्धि का अधिकारी बन जावे।

निश्चित है कि यह क्रम अधिक समय तक सम्भव नहीं रहता। प्रारब्ध कर्मों की स्थिति सदैव एक जैसी नहीं रहती और इनकी स्थिति बदलते ही क्रियमाण कर्मों का फल भी तदनुकूल ही सुलभ या दुर्लभ हो जाता है। इस प्रसंग को और स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

संचित कर्म इस प्रकार हैं–जैसे किसी बड़े परिवार का मुखिया अपने कुटुम्ब के साल भर के खर्च को ध्यान में रखकर अलग-अलग समय में, अलग-अलग स्थानों से, अलग-अलग प्रकार के गेहुँओं की दस बोरियाँ अपने गोदाम में भरकर रख ले। इनमें से एक बोरी नित्यप्रति के उपयोग के लिए बाहर निकाली जायेगी और शेष समय आने पर बाद में एक-एक करके निकलती रहेंगी। यहाँ जिस बोरी के गेहुओं का उपयोग अब हो रहा है वह हमारे प्रारब्ध कर्मों की सूचक है और संग्रह करके रखी गई शेष बोरियाँ संचित कर्मों के समान हैं। भोजन के स्वादिष्ट बनने या न बनने में तत्काल खरीदी गई साग सब्जियाँ, जो हमारे क्रियमाण कर्मों के समान होती हैं, उनका भी योगदान होता है और कैसे गेहूँ के आटे की रोटियां पकाई जा रही हैं। (प्रारब्ध कर्म) इस बात का भी कोई कम महत्त्व नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रोटियों और दाल-सब्जियों के योग पर भोजन का आनन्द निर्भर करता है, ठीक उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म और क्रियमाण कर्मों के योग से हमें अपने कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिला करता है।

भोग-योनि तथा कर्म-योनि

इसी सन्दर्भ में यह उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि केवल मानव-योनि ही ऐसी है, जिसमें प्राणी को कर्म करने की स्वतन्त्रता रहती है। वह अपने पाप तथा

पुण्यों को घटाने–बढ़ाने में पूर्ण समर्थ रहता है। जड़–चेतन सृष्टि में व्याप्त शेष सभी योनियां मात्र भोग–योनियां हैं। पशु–पक्षी का शरीर धारण करके जीवात्मा अपने पूर्व संचित कर्मों को थोड़ा शिथिल करने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रगति नहीं कर सकता। बैल अपने स्वामी के संकेत के अभाव में किसी अन्य की सहायता करके परोपकार नहीं कर सकता। वह अपना भोजनादि भी किसी को दानस्वरूप देने में असमर्थ है। केवल मनुष्य को ही उस जगन्नियन्ता ने शुभाशुभ चाहे जैसे कर्म करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है। यह भोग–योनि भी है और कर्म–योनि भी जबकि शेष केवल भोग–योनियाँ हैं।

स्वर्ग, नरक तथा मोक्ष

यदि मानव शरीर धारण करके भी हम अपने कल्याण की चेष्टा न करें तो इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है? हमारे कर्मों का स्वर्ग–नरक तथा मोक्ष से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः इसके विषय में भी थोड़ा प्रकाश डालना उचित रहेगा, अतिशय पुण्यों के प्रभाव से जीव को स्वर्ग का सुख मिलता है। यह उपलब्धि केवल उसी स्थिति में होती है, जब जीवात्मा के संचित पुण्य इतने अधिक हों कि उसे अच्छी से अच्छी योनि प्रदान करने के बाद भी उनका सन्तुलन सम्भव न हो सके। अर्थात् पृथ्वी के बड़े से बड़े भोग भी जब उस आत्मा विशेष के पुण्यों के सामने नगण्य प्रतीत होते हैं, तब उसे निश्चित काल तक स्वर्ग में निवास करने का अवसर प्रदान किया जाता है, जहाँ वह नाना प्रकार के दिव्य भोगों का परमानन्द प्राप्त करता है। तदनन्तर वह जगन्नियन्ता ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि उसे किसी सुशील, सम्पन्न और प्रतिष्ठित परिवार में उत्तम मानव शरीर प्रदान किया जा सके। श्रीमद्‌भगवद् गीता में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने भी इसकी इन शब्दों में पुष्टि की है–

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।

अर्थात् ''वे पुण्यात्मा पुरुष उस विशाल स्वर्गलोक में दिव्य भोगों को भोगकर बाद में अपने पुण्यों के क्षीण हो जाने पर पुनः मृत्यु–लोक में जन्म धारण करते हैं।

नरक की स्थिति स्वर्ग से सर्वथा विपरीत है। ऐसा प्राणी जो अपने पाप–समूह के कारण मृत्यु–लोक में निकृष्ट से निकृष्ट योनि को धारण करने की भी सामर्थ्य नहीं रखता, भगवान् उसके भीषण पापों को क्षीण करने के लिए उसके निमित्त नरक की व्यवस्था करते हैं। जहाँ विविध यातनाओं को सहन करने के पश्चात् कालान्तर में वह किसी

निर्धन, संस्कारहीन और निम्न वर्ग के परिवार में जन्म लेता है अथवा पशु–पक्षी या कीटादि की योनि को ग्रहण करता है।

मोक्ष की स्थिति इन दोनों से सर्वथा भिन्न है। जब तक जीवात्मा के संचित पुण्य तथा पाप–कर्म शेष रहते हैं, तब तक उसे उसके सुख–दुःख भोगने के लिए अनिवार्य रूप से विविध शरीर धारण करने पड़ते हैं। जब किसी समर्थ सद्गुरु के मार्ग–दर्शन में कठोर साधना के फलस्वरूप प्राणी के पाप–पुण्य शून्य पटल पर आ जाते हैं, तब शरीर त्यागने पर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसे महान् साधक को 'स्थित प्रज्ञः' की संज्ञा प्रदान की गई है। इस सन्दर्भ में अर्जुन द्वारा जिज्ञासा करने पर भगवान श्रीकृष्ण गीता के दूसरे अध्याय में श्लोक संख्या 55 से 72 तक स्थित–प्रज्ञ महात्मा के विषय में बहुत ही सुन्दर प्रकाश डालते हैं। 'स्थाली पुलाकन्याय' से हम इस विषय को थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए उस प्रसंग का केवल एक श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं–

विषया विनिवर्तन्ते,
निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं,
दृष्ट्वा निवर्तते।। *(गीता 2/59)*

जो प्राणी अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग नहीं करता, कालान्तर में वह सांसारिक विषय–वासनाओं के मोह–जाल से तो छूट जाता है, किन्तु उसे सहज ही राग से मुक्ति नहीं मिलती। स्थित–प्रज्ञ साधक, क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार कर चुका होता है। अतः उसके हृदय से राग–भाव भी सर्वथा नष्ट हो जाता है।'' इस प्रकार के सिद्ध पुरुष, जो साधना के बल से अपने समस्त संचित कर्मों का क्षय कर चुके होते हैं। वे अपने शेष जीवन काल में पाप–कर्म तो कर ही नहीं सकते। साथ ही पुण्य–कर्मों का भी स्वेच्छया परित्याग करते रहते हैं। अपने जीवन की निश्चित अवधि समाप्त करके ऐसे महात्मा सहज भाव से परमात्मा में लीन होकर उस संसार–चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ पाप–पुण्य की चर्चा अनावश्यक विस्तार में पढ़कर मोक्ष के सम्बन्ध में यह कहना परमावश्यक है कि **'–बिना योगेन न मुक्तिः'** अर्थात् योग–साधना के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। तभी तो भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योगोन्मुख करते हुए कहा है–

तस्माद्योगी भवार्जुन। *(गीता 6/46)*

(अतः हे अर्जुन! तुम योगी बनो), क्योंकि–

योगो भवति दुखहा। (गीता 6/17)

योग दुःखों को नष्ट करने वाला होता है।

आशा है कि इस लेख के पाठक भी योग-पथ का अनुसरण करके अपना कल्याण-पथ प्रशस्त करेंगे।

ईश्वर साक्षात्कार

—विनोबा

कहीं यह पूछा गया कि 'क्या हम भगवान् का रूप अपनी आँखों देख सकते हैं?' सचमुच सवाल बहुत बड़ा है, लेकिन उसका उत्तर है, अति सरल। भगवान् अव्यक्त भी है, व्यक्त भी। साकार भी है, निराकार भी। ईश्वर है भी और नहीं भी है। वह सगुण है, निर्गुण भी है। वह सब प्रकार का है। यों तो जो विश्व सामने खड़ा है, सारा भगवान का रूप ही है। लेकिन हम उसे उस प्रकार पहचान नहीं पाते। अपने चर्मचक्षुओं से ऊपरी ढाँचा, आकारमात्र देखते हैं, अन्तर का तत्व नहीं है।

इसके अतिरिक्त ध्यान में मनुष्य की जैसी वासना होती है, तनदनुसार भगवान् उसे वैसा रूप दिखाता है। उपासकों ने अपने चित्त की एकाग्रता और इन्द्रियों के आकर्षण से छूटने के लिए ध्यान की कल्पना की है। कोई चतुर्भुज विष्णु भगवान् का, कोई कृष्णचन्द्र का, कोई रामचन्द्र का, तो कोई ईसा का ध्यान करते और उस रूप में भगवान् को मानते हैं। कोई किसी रूप का तीव्र ध्यान करता हो, रात-दिन उसी का चिन्तन, मनन, भावन करता हो, तो उसके समाधानार्थ ध्यानावस्था में भगवान् वह रूप लेकर आ सकते हैं और उस तरह उसका समाधान हो सकता है।

उसे भगवद् रूप का दर्शन हुआ या नहीं, इसकी दूसरों को कल्पना नहीं आ सकती है। लेकिन ध्यान समाप्ति के बाद उसका जो व्यवहार होगा, उस पर से लोगों को पता चलेगा। अवश्य ही उसने अपनी कल्पना का ही ईश्वर देखा, परिपूर्ण नहीं। फिर भी उतने से ही उसके चित्त का रूप बदल जायेगा। जिसका चित्त भगवान् के दर्शन प्राप्त कर लेगा स्पष्ट ही उसके जीवन में प्रेम और करुणा स्पष्ट रूपेण देखने को मिलेगी।

गीता तथा पातंजल योग सूत्रों में

एकात्मकता

श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा, लखनऊ

भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों को यदि कोई व्यक्ति एकत्र देखने तथा अध्ययन करने की आकांक्षा करना चाहे तो उसे योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निस्सृत गीता का मनोयोग से अध्ययन करना अभीष्ट होगा। गीता भारतीय संस्कृति की आत्मा है तथा एक ऐसा अमूल्य ग्रन्थरत्न है जिसकी समता का ग्रन्थरत्न न है, न कभी रहा और न ही कभी आगे बन सकेगा। इसमें निहित है ब्रह्मविद्या; इसमें भरा है उपनिषदों का सार। इसमें श्रोता हैं महाधनुर्धर अर्जुन तथा वक्ता हैं श्रीकृष्ण–नर एवं नारायण स्वयं इस अत्यन्त अद्‌भुत एवं परमपावन संवाद के संदेशवाहक बने हुए हैं। आत्मोत्कर्ष एवं आत्मिक अभ्युदय का यह शाश्वत गीत इस सप्तशत श्लोकी (700 श्लोकों में) गीता में न जाने अब तक कितने ही असंख्य मानवों के परम–कल्याण का कारक बन चुका है तथा 'यावत चन्द्र दिवाकरौ' की कालावधि तक मानवमात्र की अन्तःप्रसुप्त चेतना को जागृत कर उनमें नवनवीन उद्‌भावनाओं की कल्याणमयी सृष्टि करता हुआ सार्वजनीय श्रेयस्करी प्रवृत्तियों का जनक बना रहेगा, इसमें किंचितमात्र भी सन्देह नहीं है। संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि श्रीमद्‌भगवद् गीता एक ऐसी अमूल्य धरोहर है जो सर्वदा पठनीय, मननीय तथा अभ्यसनीय है। यह महामुनि व्यास द्वारा रचित तथा भगवन्मुखारविन्द द्वारा निस्सृत एक अपूर्व ग्रन्थ–रत्न के रूप में मानव मात्र के जीवन में एक आलोक–स्तम्भ बन पद–पद पर सहायक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार प्रसिद्ध योग–सूत्रों के प्रणेता भगवान पतंजलि ने भी स्वानुभव सिद्ध सत्यों का उद्‌घाटन कर मानवमात्र के कल्याण–पथ को प्रशस्ततर बनाने में अभूतपूर्व योगदान किया है। हमारे पूर्वज ऋषि व मुनि मन्त्र–द्रष्टा तथा सत्य–द्रष्टा रहे हैं। उनके द्वारा उचरित वाक् ही मन्त्र बनकर तथा त्रिकाल में सत्य होकर अवतरित हुई है। ऐसी पावन वाणी क्यों न जगतीतल में मानव मात्र के निमित्त श्रेयस्करी तथा यशकरी हो। भगवान पतंजलिदेव ने चार पादों में ''समाधिपाद, विभूति पाद, साधन पाद तथा कैवल्य पाद'' के चार मणियों

में प्रत्येक पाद की विभिन्न संख्याओं में रचित सूत्र-रत्नों के साथ एक मुक्ताहार जो विश्व के जन-जन हेतु समर्पित किया है। वह वस्तुतः सर्वथा अभिनन्दनीय, वन्दनीय तथा समभ्यसनीय एवं अनुकरणीय है। भगवान पतंजलिदेव के सूत्रों पर महामुनि व्यासकृत 'भाष्य' ही पातंजलि योग-दर्शन की सर्वातिशायी उत्कृष्ट महत्ता का परिचायक है।

इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है कि श्रीमद्भगवद् गीता में यत्र-तत्र जिस विषय को संग्राह्य किया गया है उसका समावेश पातंजल योग-दर्शन में सूत्रों में कहीं न कहीं दृष्टिगोचर हुआ है। गीता तथा पातंजल योग-दर्शन वास्तव में जीवन-दर्शन के प्रस्थापक दो अनमोल रत्न हैं, जिनसे जीवन को रत्नसम उत्कृष्ट एवं उज्जवल बना पाने की कला यत्र तत्र सर्वत्र बिखरी हुई है। मात्र आवश्यकता है बस उस संग्राहक की, उस बटोरने वाले की जो उन्हें ग्रहण कर हृदयंगम करे तथा उन आदर्शों का आलिंगन कर अपने इस दुर्लभ नर-तनु को दिव्य सम्पदाओं से युक्त बनाकर जीवन के चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार सहित उस परमात्म सत्ता में अपनी आत्म-सत्ता को विलीन कर तद्रूपता प्राप्त कर ले।

गीता तथा पातंजल योग-दर्शन दोनों ही ग्रन्थों के प्रतिपाद्य मुख्य विषय हैं—भगवद् प्राप्ति अथवा कैवल्य भाव प्राप्ति, आत्मप्राप्ति भी जिसे हम कह सकते हैं। गीता में 18 अध्याय हैं। प्रमुख रूप से प्रथम के छः अध्यायों में कर्मयोग का निरूपण किया गया है, दूसरे छः अध्यायों में भक्तियोग का विशद् वर्णन है तथा तीसरे छः अध्यायों में ज्ञानयोग का व्याख्यापन हुआ है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि भगवद्-प्राप्ति के तीन प्रकार के साधन-सोपान गीता में उपदिष्ट हैं—पहला कर्मयोग, दूसरा भक्तियोग तथा तीसरा ज्ञान-योग। इसी प्रकार महामुनि पतंजलि कृत चार पाद कैवल्य प्राप्ति अथवा आत्म साक्षात्कार हेतु विभिन्न साधन सोपान हैं, जिनसे मनुष्य क्रमशः जीवन-मार्ग को प्रशस्त करता हुआ अन्तिम एवं प्राप्तव्य लक्ष्य कैवल्य पाद को प्राप्त कर लिया करता है।

पातंजल योग-दर्शन के आरम्भ में ही योग की व्याख्या करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने एक सूत्र की रचना की "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सम्पूर्ण रूप से रोक देना ही "योग" है। देखने में, समझने में तथा पढ़ लेने में यह सूत्र कितना छोटा तथा निरापद सा जान पड़ता है, परन्तु जितना यह छोटा है, इसके सम्यक् अनुशीलन तथा आचरण के लिए यह सम्पूर्ण जीवन भी बहुत ही छोटा दीख पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्तियों का उदय क्षण-प्रतिक्षण अविराम गति से हुआ करता है। उस वृत्ति-चक्र की उपरामता शनैः-शनैः ही सम्भव है। उपरामता के क्रम में भी इन्द्रियों

का उनके विषयों से प्रत्याहरण, यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि। इन योग के अष्टांगों का सम्यक् रूपेण आचरण, श्रद्धापूर्वक, सुदीर्घ अवधि तक निरंतर अबाध रूप से अभ्यास ही नितान्त वांछनीय एवं अतिप्रेत है। पातंजल योग-सूत्र ''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा सेवितो दृढ़-भूमिः'' के अनुसार अक्षरशः अनुभूत एवं सिद्ध सत्य है।

उपर्युक्त सिद्धान्त की परिपुष्टि योग-योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण अपने मुखारबिन्द से मन की एकाग्रता पर बल देते हुए मानस चांचल्य को वशीभूत करने की शिक्षा, अभ्यास तथा वैराग्य के समाश्रय से पूर्ण करने के लिए अर्जुन के तत्सम्बन्धी प्रश्न के माध्यम से प्रदान कर रहे हैं। वे कहते हैं-

चंचल हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्।।

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।।

असंयतात्मना योगो, दुष्प्राप्यं इति मे मतिः।।
वश्यात्मना तु यतता, शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।

-गीता 6/34-35-36

भगवन्मुखारविन्द के उपर्युक्त वचनामृत कितने यथार्थ एवं ह्रदय स्पर्शी हैं। इनकी सत्यता में लेशमात्र भी सन्देह अथवा संशय नहीं है। जीवन के पग-पग पर मनुष्यमात्र इन यथार्थ सत्यों का अनुभव करता रहता है तथापि अभ्यास तथा वैराग्य की बलवती धारणा से इस दुर्निग्रही मन पर भी इन्द्रियजय आदि के माध्यमों से अथवा अन्यान्य प्राणायामादिक साधनों के अवलम्ब से-उपायों द्वारा विजय प्राप्त कर लिया करता है।

पातंजल योग-दर्शनकार ने भी इन्हीं विषयों के प्रतिपादनार्थ निम्न सूत्रों की संरचना कर दी-

श्रद्धापूर्वक मितरेषाम्
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः
अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः

वस्तुतः देखा जाए तो हमारा 'संकल्प-विकल्प वृत्तिमान' यह मन ही तो हमें सत्यपथगामी या कुपथगामी या दूसरे शब्दों में शुभ संकल्पवान् या अशुभ संकल्पी बनाया करता है। इसको हम जिस ओर उन्मुख कर दें वह उसी प्रवृत्ति की धारणा करने वाला

हो जाया करता है। वेद भगवान ने भी मन की ऐसी वृत्तिमत्ता को स्वीकार करते हुए 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' की ऋचाओं की उद्घोषणायें ऋषिप्रवरों द्वारा की गई हैं। सारा खेल है भी इसी नटवर नागर चंचल राजा मन का ही। लोकोक्तियाँ कितनी सटीक तथा यथार्थ हैं इन्हीं मन के बारे में–

मन के हारे हार है,
मन के जीते जीत।

जितं जगत्तेन मनो हि येव–

परन्तु जैसा कि इससे पूर्व भी उल्लेख किया जा चुका है कि ये सूक्तियाँ पढ़ने–लिखने समझने में जितनी सुगम व सरल प्रतीत होती हैं इनका आचरण करने वाला स्वनामधन्य कोई एक विरला ही मनुज श्रेष्ठ इस धरतीतल पर ढूँढ़ने से भी मिल पाना कठिन हुआ करता है क्योंकि यह '–असिधारा–व्रत' के सदृश कठिन परीक्षा के दौर से तप्तकाञ्चन सरीखे उत्तम व्यक्तित्व ही हुआ करते हैं।

इसके अतिरिक्त गीता में अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने 'भक्तियोग' के माध्यम से निम्न श्लोक द्वारा क्या ही सुगम, सरल व सुन्दर मार्ग इंगित किया है–

यत्करोषि यदश्नासि,
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय,
तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभ फलैरेवं,
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।।
संन्यास योग युक्तात्मा,
विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

पातंजल योग सूत्रकार ने भी इसी सिद्धान्त का निरूपण निम्न सूत्रों के माध्यम से कर दिया है–

ईश्वर प्रणिधानाद् वा
यथाभिमतध्यानाद् वा
वीतरागविषयं वा चितम्
आदि।

इससे स्पष्ट है कि भक्ति से ओतप्रोत मन भक्तियोग द्वारा अपने अभीष्ट लक्ष्य को

प्राप्त कर लिया करता है। आवश्यकता है बस केवल इतनी कि वह मन को इस बात के लिए राजी कर ले कि वह किस माध्यम को अपनाकर दृढ़तापूर्वक अपने गन्तव्य पथ पर पहुंचना चाहेगा। एक बार अपनाये गये मार्ग से फिर विचलित होना या संशयालु होना यह पतन के कारण हुआ करते हैं।

पतंजलि देव के अनुसार 'संशयस्थान विक्षेपाः सहभुवः' संशय आदि वृत्तियों के लिये फिर उसमें स्थान नहीं है। श्रद्धातिरेक द्वारा ही वह सहज सम्भाव्य है,

सा श्रद्धा जननीव योगिनं पाति।

इसके अनुसार श्रद्धा एवं विश्वास से प्राप्तव्य एवं गन्तव्य पथ का अनुसरण तथा–वततथा तदनुसार ही होना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी संशयात्मत व्यक्तियों को सचेत करते हुए निम्न श्लोक में अपने वचनामृत की अवतारणा की है–

अज्ञाश्चाश्रद्दधानश्च
संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो
न सुखं संशयात्मनः।।
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां
शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।

–गीता 4/40–39

पातंजल योगदर्शनकार ने 'निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः' इस सूत्र की रचना कर भगवद्गीता के उस श्लोक का स्मरण दिला दिया है जिसे पाकर सब सुखों की निवृत्ति हो जाया करती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां
हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धिः पर्यवतिष्टते।।

–गीता 2/65

तथा

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै,
गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। —गीता–15/5

इसके अतिरिक्त ज्ञानयोग के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्न उपदेशामृत देकर हमें सचेत किया है।

मन्मना भव मद्भक्तो
मद्याजी मां नमस्कुरु। —गीता 9/34

नाहं प्रकाशः सर्वस्य
योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति
लोको मामजमव्ययम्।। —गीता 7/25

ये यथा मां प्रपद्यन्ते
तांस्तथैव भजाम्यहम्। —गीता 4/11

अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण के ये वचनामृत भी कितने यथार्थ एवं ग्राह्य हैं–

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते।। —गीता 7/14

भगवान् श्रीकृष्ण की उक्त उक्ति मानव मात्र के लिए सर्वत्र ग्राह्य एवं अवबोध्य है। इस लघु जीवन में विविध प्रकार के सांसारिक क्रियाकलापों में प्रति क्षण व्यस्त इस जीवन क्रम में मनुष्य को यह अवसर ही कहाँ कि वह स्वयं चेष्टावान् तथा आस्थावान् रहकर इस कठिन एवं दुस्साध्य मायामय संसार–सागर से अपने आपको उबार कर ले जाए। गुरुदेव के रूप में साक्षात् ईश्वर एवं सर्वसमर्थ प्रभु की चरण–शरण के द्वारा ही यह सुदुष्कर पथ भी सुकर एवं सुलभ हो जाया करता है। आवश्यकता है तो मात्र इतनी कि श्रद्धातिशय द्वारा हम गुरुदेव की अनुकम्पा के पात्र बनें तथा इस जीवन के परम लाभ को उनके सानिध्य की सन्निधि को अवश्यमेव प्राप्त करें।

जीवन और मृत्यु

—श्री दिव्यजी

जिस दिन मैंने जन्म लिया था,
जिस दिन मैंने जीवन पाया।
मृत्यु प्रेयसी ने भी हँसकर,
मुझे उसी दिन से अपनाया।

मेरी आयुष की माला में,
स्वांसों के सुन्दर से मोती।
जीवन देता रहा नियति हँस–
हँसकर उनको गई पिरोती।।

किन्तु मृत्यु ने साथ–साथ ही,
लेकर उन्हें मसल डाला है।
स्वांसों की जो मिली धरोहर,
उसने उसे कुचल डाला है।।

मेरी द्वार–देहरी पर ही,
दोनों का व्यापार रहा है।
क्षण–क्षण में लेने–देने का,
दोनों में व्यवहार रहा है।।

जीवन और मृत्यु दोनों कब,
होकर अलग–अलग चलते हैं।
दोनों मेरे साथ–साथ हैं,
दोनों आस–पास पलते हैं।।

इसीलिए तो मुझे मृत्यु से,
सच मानो कुछ द्रोह नहीं है।
और सत्य है यह भी मुझको,
जीवन से कुछ मोह नहीं है।।

मोह–द्रोह का इन दोनों में, मुझे न भेद–भाव भाता है।
इन दोनों से इस दुनिया में, मेरा जन्म–जात नाता है।।

हमारा लक्ष्य

योग के जिस मार्ग का यहाँ अवलम्बन किया जाता है उसका हेतु अन्य योगमार्गो से भिन्न है। इस योगमार्ग का लक्ष्य केवल सामान्य सांसारिक देहात्मभाव से ऊपर उठकर परमात्म भाव को प्राप्त होना ही नहीं है, प्रत्युत उस परमात्म भाव के विज्ञान को इस मन, बुद्धि, प्राण और जीवन के तमस् में ले आना, इनको रूपान्तरित कर देना, इनमें भगवान् को प्रकट करना और जड़ पार्थिव प्रकृति में दिव्य जीवन निर्माण करना इसका लक्ष्य है। यह बड़ा ही दुर्गम लक्ष्य और कठिन योग साधन है ; बहुतेरों को, या प्रायशः सभी लोगों को यह असम्भव ही प्रतीत होगा। सामान्य, अनभिज्ञ सांसारिक देहात्मभाव में अज्ञान की जो क्रिया शक्तियाँ जमकर डटी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं और इसका होना ही नहीं मानतीं और इसके होने में बाधा ही डालने का यत्न करती हैं और साधक स्वयं भी देखेगा कि अपने ही मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्ति में कितनी जबर्दस्त रुकावटें डालेंगे। यदि तुम इस लक्ष्य को सर्वात्मना स्वीकार कर सको, इसके लिये सब कठिनाइयों का सामना करने को तैयार हो, पीछे जो कुछ हुआ उसे और उसके बन्धनों को पीछे ही छोड़ दो और इस भगवद्भाव की सम्भावना के लिए सब कुछ छोड़ देने और, चाहे जो हो जाए, इसके पीछे लगाने को प्रस्तुत हो, तो ही तुम यह आशा कर सकते हो कि इसके पीछे जो महत् सत्य है उसका तुम्हें साक्षात्कार होगा। इस योग की साधना का कोई बँधा हुआ मानसिक अभ्यास क्रम और ध्यान का कोई निश्चित प्रकार, कोई मंत्र या तंत्र नहीं है ; यह साधना आरम्भ होती है साधक की आरोहणेच्छा से ; उसके अपने ऊपर या अन्दर आत्मध्यान से ; अपने आपको भगवत्प्रभाव की ओर, उस भगवच्छक्ति की ओर जो हमारे हृदय में है – अपने आप को खोल देने से ; और इन सब बातों के विरुद्ध जो–जो कुछ है उसका त्याग करने से। श्रद्धाविश्वास, आरोहणेच्छा तथा आत्मसमर्पण के द्वारा ही इस प्रकार अपने आप को भगवत्सत्ता की ओर खोल देना होता है।

– महर्षि अरविन्द

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सैंवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।

(ईशावास्योपनिषद्-9)

वे परमेश्वर अचल, एक, और मन से भी अधिक तीव्र गतियुक्त हैं। सबके आदि ज्ञानवस्वरूप या सबके जानने वाले हैं, इन परमेश्वर को इन्द्रादि देवता भी नहीं पा सके या जान सके हैं। वे परब्रह्म पुरुषोत्तम दूसरे दौड़ने वालों को स्वयं स्थित रहते हुए ही अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके होने पर ही उन्हीं की सत्ताशक्ति से वायु आदि देवता जलवर्षा, जीव की प्राणधारणादि क्रिया प्रभृति कर्म सम्पादन करने में समर्थ होते हैं।

संस्थापक:– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्दमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा